# सम्मेलन पत्रिका

**( शोध–त्रैमासिक )**


| | | |
|---|---|---|
| **भाग** | : | ११०, संख्या–१ |
| **पौष–चैत्र** | : | संवत् २०८१–८२ |
| **जनवरी–मार्च** | : | सन् २०२५ |



प्रधान सम्पादक

**कुन्तक मिश्र**

सम्पादक

**रामकिशोर शर्मा**



**हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग**

**१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज–३**

**ISSN : 2278-1773,** यू०जी०सी० केयर लिस्ट पत्रिका

प्रकाशक

**कुन्तक मिश्र**

प्रधानमंत्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज-३

दूरभाष (कार्यालय)- ०५३२-२५६४१९३

- सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों तथा प्रस्तुत किये गये तथ्यों से प्रकाशक व सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।
- इस पत्रिका में विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित एवं अभिनिर्णित लेख प्रकाशित किये जाते हैं।

**एक प्रति का मूल्य :** १०५ रु०

**वार्षिक मूल्य :** ४०० रु०

**विदेश के लिए वार्षिक मूल्य :** २० डालर (डाक व्यय अतिरिक्त)

वार्षिक सदस्य बनने के लिए **४००.०० रु०** का ड्राफ्ट या पोस्टल-आर्डर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १२ सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज-३ के नाम भेजें। कृपया चेक या मनीआर्डर न भेजें।

मुद्रक :

**सम्मेलन मुद्रणालय**

१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद-३

# विषय-सूची

**सम्पादकीय**


| क्र.सं. | आलेख | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| | **साहित्य आलेख** | | |
| १. | अज्ञेय का संस्कृति चिन्तन | **–प्रो० अखिलेश कुमार शंखधर** | ७–१५ |
| २. | प्राचीन भारत में इतिहास लेखन की परम्परा | **–डॉ० शिवाकान्त त्रिपाठी** | १६–३० |
| ३. | निर्मला पुतुल के काव्य में स्त्री स्वर | **–डॉ० प्रियंका सिंह** | ३१–३६ |
| ४. | स्वतन्त्रता का अमृतकाल और हिन्दी कविता | **–डॉ० त्रिभुवन गिरि** | ३७–४४ |
| ५. | बेचारा भला आदमी : हरिशंकर परसाई | **–डॉ० प्रशान्त गौरव** | ४५–५१ |
| ६. | एक संघर्षशील नारी की कहानी : अन्या से अनन्या | **–नीलम साव** | ५२–५६ |
| ७. | मुक्तिबोध की सामाजिक अभिव्यक्ति एवं उसकी प्रासंगिकता | **–सौरभ तिवारी** | ५७–६३ |
| ८. | परम्परा भंजक कवि अज्ञेय | **–सुदेश कुमार** | ६४–७० |
| ९. | वैश्विक दुनियाँ में आदिवासी भाषा और संस्कृति | **–सचिन टोप्नो** | ७१–७५ |
| १०. | वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महादेवी वर्मा के संस्मरण साहित्य की प्रासंगिकता | **–आभा सिंह** | ७६–८३ |
| ११. | विमर्शों की परिधि में 'रेत समाधि' | **–स्निग्धा पाण्डेय** | ८४–८७ |
| १२. | निर्मल वर्मा के उपन्यासों में आधुनिक भावबोध का स्वरूप | **–अभिषेक सिंह** | ८८–९३ |
| १३. | गाँधीवादी सर्वोदयी चिन्तन का नैतिक आयाम | **–डॉ० संजय शर्मा** | ९४–१०२ |
| १४. | बाजारवाद के आइने में समकालीन हिन्दी कविता | **–डॉ० अजय कुमार** | १०३–११० |
| १५. | सूखने चिनार : सैनिक जीवन और गिरते मानवीय मूल्य | **–आकांक्षा मिश्रा** | १११–११७ |
| १६. | स्त्री-विमर्श का बृहद् आख्यान : आवां | **–डॉ० मजीद शेख** | ११८–१२६ |
| १७. | सामाजिक जीवन का यथार्थ और 'सही नाप के जूते' उपन्यास | **–मनीष कुमार शुक्ला** | १२७–१३२ |

| | | |
|---|---|---|
| १८. मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में नारी चेतना का स्वरूप | **–अतुल कुमार मिश्र** | १३३–१३८ |
| १९. आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों का संवाद | **–डॉ० मुकेश कुमार** | १३९–१४४ |
| २०. गोविन्द मिश्र के उपन्यासों में विघटित होते परिवारों का चित्रण | **–डॉ० सरिता दुबे** | १४५–१४९ |
| २१. 'संत रविदास की रामकहानी' में अभिव्यक्त जाति विमर्श | **–अमित कुमार** | १५०–१५८ |
| २२. आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन | **–मिथलेश कुमार मौर्य** | १५९–१६४ |
| २३. छायावाद की सौन्दर्यानुभूति और जयशंकर प्रसाद | **–डॉ० लता कुमारी** | १६५–१७२ |
| २४. आधुनिक हिन्दी के साहित्यिक परिदृश्य में काशी का योगदान | **–उपेन्द्र तिवारी** | १७३–१७८ |
| २५. उत्तर–दक्षिण भाषायी संवाद : समस्या और समाधान | **–सलमा खातून** | १७९–१८४ |
| २६. एक जमीन अपनी : आधुनिक नारी की तल्ख एवं विवश जिन्दगी की कहानी | **–डॉ० पौल्टी कुमारी** | १८५–१८८ |
| २७ भारतीय सूफी सन्त बुल्लेशाह की काफियों में आध्यात्मिक गूँज | **–महिमा** | १८९–१९३ |

**समीक्षा**

| | | |
|---|---|---|
| २८. साहित्यिक निबन्ध–संग्रह : नौ साहित्यिक निबन्ध | **–ठाकुर परशुराम** | १९४–१९५ |

**विविधा**

| | | |
|---|---|---|
| २९. स्त्री विमर्श बहस का नहीं, जागृति का विषय है | **–डॉ० कृष्णराज सिंह** | १९६–२०० |

# सम्पादकीय

'सम्मेलन पत्रिका' पं० मदन मोहन मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के द्वारा महात्मा गाँधी की सहमति से १९१० में स्थापित संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित शोध-पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९१३ से आरम्भ हुआ, तब से अनवरत यह पत्रिका प्रकाशित हो रही है। लगभग १०८ (एक सौ आठ) वर्षों में इसमें अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व के शोध-पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। मालवीय जी विशेषांक, गाँधी-टण्डन विशेषांक, लोक-संस्कृति विशेषांक के अलावा जन्मशती के अवसर पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त,, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, भारतेन्दु शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, भारतेन्दु आदि लेखकों पर उच्चस्तरीय सामग्री से युक्त विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। पत्रिका की गरिमामयी परम्परा तथा स्तर को बनाये रखने के लिए सम्पादक की अपेक्षा लेखकों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। आलेख यथासम्भव नवीन विषयों या ज्ञात तथ्यों की पुनर्व्याख्या से सम्बन्धित हों। एक या दो पुस्तकों से उतारकर आलेख न भेजें। शोध आलेख में उद्धृत कविताओं, मतों तथा अन्य उद्धरणों के लेखक का नाम, पुस्तक का नाम, पृष्ठ संख्या, संस्करण आदि का उल्लेख अवश्य करें। आप लोग इस उन्नत परम्परा के संरक्षण में अपना अमूल्य योगदान करेंगे।

**सम्मेलन पत्रिका की नियम एवं शर्तें**

(१) सम्मेलन पत्रिका के समस्त आलेख शोधार्थियों एवं प्राध्यापकों के लिए उपयोगी होने चाहिए।

(२) शोधार्थी अपने मौलिक आलेख को अपने शोध निर्देशकों से अग्रसारित कराकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय में प्रेषित कर सकते हैं।

(३) सम्मेलन की चयन समिति के पास सर्वाधिकार है कि वह आपके आलेख प्रकाशन को स्वीकृत/अस्वीकृत कर सकती है।

(४) शोधार्थी/प्राध्यापक अपने आलेख की हार्डकॉपी सम्मेलन कार्यालय में भेजें और अपने शोध आलेख (माइक्रोसॉफ्ट ऑफिस वर्ड २००७ सॉफ्टवेयर में कृतिदेव ०२१ में १६प्वाइंट में) टंकित कराकर तथा एक बार गम्भीरता से उसे पढ़कर, त्रुटियों को सुधार करके प्रकाशन हेतु प्रेषित करें, शोध आलेख की सॉफ्ट कॉपी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ईमेल hs.sammelan.alld@gmial.com पर भेजें।

(५) शोध आलेख ८ पृष्ठों से अधिक न हो।

(६) शोध आलेख के साथ अपना परिचय, पता, एवं सम्पर्क-सूत्र इत्यादि का उल्लेख होना चाहिए।

(७) आप अपने शोध आलेख साहित्य-विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन १२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज, उ०प्र०-२११००३ पर प्रेषित कर सकते हैं।

**-रामकिशोर शर्मा**

# अज्ञेय का संस्कृति चिन्तन

–प्रो० अखिलेश कुमार शंखधर

सांस्कृतिक अस्मिता, भारतीय आधुनिकता एवं मूल्यों-मानों को अपने चिन्तन का केन्द्रवर्ती प्रस्थान बिन्दु बनाकर जिन विचारकों ने संस्कृति के विविध पक्षों पर लेखन-कार्य किया है, अज्ञेय उनमें अग्रगण्य हैं। विचार और चिन्तन के धरातल पर अज्ञेय ने अभिनव प्रतिमान स्थापित किये। अपने अनेक निबन्धों में उन्होंने संस्कृति सम्बन्धी चिन्तन प्रस्तुत किया है। इन निबन्धों में संस्कृति और परिस्थिति, संस्कृति की चेतना, सभ्यता का संकट, संस्कृतियाँ मूल्यों की सृष्टि करती हैं, प्राची-प्रतीची, काल का डमरू नाद, स्मृति और काल, स्मृति और देश, इतिहास और स्वातन्त्र्यबोध, जीवन के गुणाधार, रूढ़ि और मौलिकता, सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध तथा साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संस्कृति विषयक अज्ञेय के ये निबन्ध उनकी पुस्तकों-त्रिशंकु, आत्मनेपद, केन्द्र और परिधि, सर्जना और सन्दर्भ, आत्मपरक, संवत्सर में संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त उनके अन्तःप्रक्रियाओं के संकलनों-भवन्ती (१९७०), अन्तरा (१९७४ ई०), शाश्वती तथा शेषा में संस्कृति सम्बन्धी स्फुट टिप्पणियाँ मिलती[ै]। रघुवीर सहाय, रमेशचन्द्र शाह, नन्दकिशोर आचार्य, विद्यानिवास मिश्र और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को दिये गये अनेक साक्षात्कारों में भी अज्ञेय ने संस्कृति के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। परम्परा, आधुनिकता, भारतीयता, काल-चिन्तन, जातीय स्मृति, स्वाधीनताबोध, मूल्य-चेतना और वैचारिक स्वराज आदि ऐसे बिन्दु हैं जिन पर अज्ञेय विस्तारपूर्वक विचार करते हैं। अज्ञेय के संस्कृति-चिन्तन की विशिष्टता को उजागर करते हुए उनके जीवनीकार डॉ० रामकमल राय लिखते हैं ''अज्ञेय के व्यक्तित्व और कृतित्व को यदि एक परिचय सूत्र में व्यक्त करना हो तो उन्हें हम संस्कृति पुरुष कह सकते हैं। उनके जीवन की सधना वास्तव में संस्कृति की ही साधना है। अज्ञेय की संस्कृति-चेतना को हम तीन धरातलों पर देख सकते हैं, एक उनका चिन्तन का धरातल, दूसरा उनका सृजन और तीसरा उनका जीवन। तीनों ही आयाम उनकी संस्कृति साधना के अत्यन्त गहरे आयाम हैं।''[१] इसी सन्दर्भ में अज्ञेय साहित्य के निष्ठावान अध्येता और प्रसिद्ध समालोचक डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की पंक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं- ''अज्ञेय के साहित्य चिन्तन का अपना एक व्यवस्थित रूप है, जो एक रचनाकार के आख्यान-प्रत्याख्यान से अधिक एक संवेदनशील मस्तिष्क की सम्पृक्त विचार-पद्धति है, जिसके पक्ष और विपक्ष में तार्किक ढंग से सोचा जा सकता है और जो रचना

के भीतर तथा बाहर दोनों प्रदेशों को आलोकित करता है। रचना और साहित्य-चिन्तन के बीच में अज्ञेय की कुछ वैसी ही स्थिति है जैसी आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में टी०एस० इलियट की।''[२]

अज्ञेय का संस्कृति-चिन्तन बहुआयामी और सम्पूर्णता लिए हुए है। उनकी संस्कृति सम्बन्धी अवधारणा मनुष्य के समग्र कर्म और उनके प्रभाव पर आधारित है। संस्कृति की अनेक परिभाषाएँ देते हुए वे लिखते हैं- ''एक परिभाषा वह है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव के समग्र कर्म और उसके तन-मन पर असर डालनेवाले सब प्रभावों को संस्मृति के अधीन ले आती है। अर्थात् जैविक या आनुवांशिक दाय के अतिरिक्त जो कुछ मानवप्राणी ग्रहण करता है वह सब का सब उसका संस्कार है और इसलिए उसे संस्कृति कहा जाना चाहिए; वह शिक्षा और परिवेश से मिलता है, जो स्वयं मानव समाज के कर्म के अधीन हैं, इसलिए उस सबको संस्कृति ही मानना चाहिए। एक दूसरी परिभाषा इतनी व्याप्ति से बचती हुई मानव के समग्र उद्यम को नहीं बल्कि केवल उसे निरूपित, निर्धारित और प्रेरित करनेवाले मूल्यों के समूह को और समाज की मूल्यदृष्टि को संस्कृति की अभिधा देना चाहती है।''[३] इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि संस्कृति का स्वरूप व्यापक और मनुष्य शिक्षा, समाज और परिवेश में रहकर जो कुछ भी अंगीकार करता है, वह सभी कुछ संस्कृति के अन्तर्गत समाहित है। अज्ञेय ने जोर देकर यह बताया है कि जैविक या अनुवंशिक रूप से मिली हुई चीजों से इतर शेष सभी कुछ संस्कृति में अन्तर्भुक्त है। 'संस्कृति की चेतना' विषयक निबन्ध में अज्ञेय संस्कृति को मूल्यदृष्टि से जोड़ते हुए लिखते हैं- ''संस्कृति मूलतः एक मूल्यदृष्टि और उससे निर्दिष्ट होनेवाले निर्माता प्रभावों का नाम है- उन सभी निर्माता प्रभावों का जो समाज को, व्यक्ति को, परिवार को, सब के आपसी सम्बन्धों को, श्रम और सम्पत्ति के विभाजन और उपयोग को, प्राणिमात्र से ही नहीं वस्तु मात्र से हमारे सम्बन्धों को निरूपित और निर्धारित करते हैं। संस्कृतियाँ लगातार बदलती हैं क्योंकि मूल्य दृष्टि भी लगातर बदलती है, क्योंकि भौतिक परिस्थितियाँ भी लगातार बदलती हैं।''[४]

अज्ञेय ने परम्परा के प्रश्न पर भी अपने अनेक चिन्तनपरक निबन्धों में विचार किया है। उनका मानना है कि परम्परा को सायास अर्जित करना पड़ता है। परम्परा के प्रति लगाव या कहा जाय सम्मानभाव सुसंस्कृत व्यक्ति में ही होता है। परम्परा के सन्दर्भ में अज्ञेय लिखते हैं- ''ऐतिहासिक परम्परा कोई पोटली बाँधकर रखा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठाकर हम चल निकलें। वह रस है जिसे हम बूँद-बूँद अपने में संचय करते हैं-या नहीं करते, कोरे रह जाते हैं।''[५] निश्चय ही अज्ञेय कहना यह चाहते हैं कि परम्परा को दृढ़तापूर्वक और निष्ठा के सँजोकर रखा था। परम्परा को एक पंक्ति में परिभाषित करते हुए अज्ञेय लिखते हैं- ''वह

वर्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता और तारतम्य का नाम है।''[५] अतः यह कहा जा सकता है कि परम्परा का बहुत गहरा सम्बन्ध वर्तमान के साथ है। वर्तमान से कटकर परम्परा का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अज्ञेय परम्परा को ऐतिहासिक चेतना से जोड़ते हैं और उनका मानना है कि किसी भी रचनाकार में ऐतिहासिक चेतना का होना आवश्यक है। ऐतिहासिक चेतना को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- ''जो कालानुक्रम में बीत गया है, अतीत है, उसके बीतेपन की ही नहीं, उसकी वर्तमानता की भी तीखी और जागृत अनुभूति साहित्यकार के लिए आवश्यक है साहित्य में और जीवन में 'असीत' का और 'अस्ति' का जो अचिर हो गया है, उसका जो 'चिर' है उसका और इन दोनों की परस्परता, अन्योन्याश्रिता का, ज्ञान उसमें बना रहे।''[७] अज्ञेय यह मानते हैं कि ऐतिहासिक चेतना के निर्माण में अतीत और वर्तमान दोनों की भूमिका है। कोई भी रचनाकार जिसने अतीत और वर्तमान दोनों के अस्तित्व को भलीभाँति समझ लिया है। कोई भी रचनाकार जिसने अतीत और वर्तमान दोनों के अस्तित्व को समझ लिया है, निश्चय ही उसका सृजन मौलिकतापूर्ण और दृष्टिसम्पन्न होगा। अज्ञेय लिखते हैं- ''अतीत और वर्तमान के इस दोहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक् वर्तमानता की और उनकी एकसूत्रता की निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है और इस चेतना का निरन्तर स्पन्दनशील विकास ही परम्परा का ज्ञान।''[८] अतः यह कहा जा सकता है कि परम्परा के निर्माण और महत्ता का अभिज्ञान कराने में ऐतिहासिक चेतना की भी भूमिका है। अज्ञेय के साथ यह विडम्बना रही है कि उन्हें कभी 'परम्परा-भंजक' माना गया तो कभी 'परम्परा-पोषक'। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त करने के अवसर पर कलकत्ते में दिये गये अपने वक्तव्य में वे कहते हैं- ''परम्परा हमारे कर्म का लक्ष्य नहीं, उसकी अनिवार्य भूमि है। सर्जनात्मक प्रतिभा जो अंकुर उपजाती है, उसका बीज वह परम्परा रूपी परती भूमि में ही डालती है। लेखक परम्परा तोड़ी है तब यह जाना है कि परम्परा तोड़ने के मेरे निर्णय का प्रभाव आने वाली पीढ़ियों पर भी पड़ेगा। सर्जना का हर गीत परती तोड़ने का गीत होता है, पर उसमें स्तवन स्थूल मिट्टी का नहीं होता, उसकी उर्वरा शक्ति का होता है, उसमें फूटने वाले अंकुर का होता है। क्योंकि प्राण वही है।''[९]

भारतीय सांस्कृतिक चेतना का बिम्ब जिन प्रत्ययों से निर्मित हुआ है, उनमें से एक प्रमुख तत्त्व है काल सम्बन्धी हमारा दृष्टिकोण। अज्ञेय काल-चिन्तन की भारतीय धारणा को न केवल विकसित करते हैं वरन् उसे तार्किक और वैज्ञानिक रूप में हमारे समक्ष उजागर करते हैं। साहित्य अकादमी की प्रतिष्ठित संवत्सर व्याख्यानमाला की शुरुआत अज्ञेय के व्याख्यानों से हुई थी जिसके अन्तर्गत उन्होंने 'स्मृति और काल' और 'स्मृति और देश' विषयक दो व्याख्यान दिये थे। अज्ञेय ने अपने इन व्याख्यानों में काल-चिन्तन की अवधारणा पर सूक्ष्मता के साथ

विचार प्रस्तुत किया है। अपने बहुचर्चित निबन्ध 'काल का डमरू-नाद' में भी वे काल सम्बन्धी अपना चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। काल-चिन्तन की भारतीय दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए अज्ञेय लिखते हैं- ''काल एक सुदूर आरम्भ-बिन्दु से आरम्भ करके एक अन्त तक नहीं जाता; वह वर्तमान की चेतना से आरम्भ होता है, वर्तमान के अद्यतन क्षण से और उसकी गति दोनों ओर हो सकती है, अतीत की ओर अथवा भविष्य की ओर। फलतः काल के सभी क्षण सर्वदा वर्तमान हैं, सहकालिक हैं।''[१०] स्पष्ट है कि अज्ञेय काल की आवर्ती अथवा चक्रवत धारणा में विश्वास रखते हैं। वस्तुतः भारतीय दृष्टि-काल गणना को सूर्य की गति से मापती है। अपनी अन्तःप्रक्रियाओं के संकलन 'शाश्वती' में अज्ञेय 'दिक' और 'काल' की परस्परपूरकता को उजागर करते हुए लिखते हैं ''काल को हम उसके अपने आयाम में केवल विषयीगत नाप से नाप सकते हैं- अनुभव की अर्थात् स्मृति की नाप से स्मृति के सहारे ही हम दिक् को काल और काल को दिक् में परिणत करते हैं, स्मृति के सहारे ही हम दिक्कपाल को एक वास्तविक सातत्य (या सतत सत्ता) देते हैं। जो स्मृति के बिना काल नहीं है, सातत्य नहीं है, कालक्रम नहीं है, सन्तानता नहीं है, प्रवाह नहीं है : केवल क्षण का समुत्पाद है।''[११] इस प्रकार अज्ञेय यह मानते हैं कि काल-चेतना में स्मृति की बहुत गहरी भूमिका है। लेखक की सृजनशीलता में भी स्मृति सार्थक और महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप करती है। इसीलिए किसी भी प्रकार की सत्ता स्मृतियों को दबाने का प्रयास करती है। कभी-कभी कुछ समय के लिए स्मृतियाँ दब जाती हैं, किन्तु कालान्तर में जब समाज में नवजागरण की चेतना का प्रसार होता है तो ये स्मृतियाँ प्रखर रूप में सामने आकर आमूलचूलकारी परिवर्तन में अपनी भूमिका अदा करती है। स्मृति की महत्ता को उजागर करते हुए अज्ञेय लिखते हैं ''हमारी स्मृति के परिदृश्य उस बिन्दु से बनते हैं जिस पर हम खड़े होते हैं। किसी भी देश का साहित्य उस देश के द्रष्टाओं द्वारा स्वीकृत और प्रतिष्ठापित परिदृश्यों को प्रस्तुत करता है- उनकी स्मृतियों का सर्जनात्मक सम्प्रेषण करता है। मैं तो स्वयं लेखक हूँ, लेखक होने के नाते दूसरे लेखकों से यह माँग नहीं करता कि वे सामने आकर घोषित करे कि वे कहाँ खड़े हैं, जैसे कि मैं किसी दूसरे का यह अधिकार नहीं मानता कि वह मुझसे ऐसी माँग करे। लेकिन हम जो कुछ लिखते हैं, वह जिस तक पहुँचाना चाहते हैं, उस पर इस बात का प्रभाव अनिवार्यतया पड़ेगा कि हम कहाँ खड़े होकर, किस प्रकाश में रचना कर रहे हैं, वहाँ से स्मृति का कैसा परिदृश्य बनता है।''[१२] निश्चय ही रचनाकार के अन्तस में अनेक स्मृतियाँ संरक्षित रहती हैं और उचित अवसर आने पर वह अपनी उन्हीं अनूठी स्मृतियों को सर्जनात्मक रूप देकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक रचनाकार की कोई-न-कोई विचारधारा अवश्य होती है और स्मृति के रचनात्मक प्रस्तुतीकरण में उस दृष्टि या विचारधारा की अपनी भूमिका होती है। पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृति चिन्तन में काल-बोध की अवधारणा के अन्तर को

स्पष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं ''यूरोपीय व्यक्ति क्षण में जीता है। अनन्तकाल से उसे प्रयोजन नहीं है, इतना भी नहीं कि भूत और भविष्यत् का उपयोग वर्तमान जीवन को सम्पन्न बनाने के लिए करे। भारतीय व्यक्ति अनन्तकाल में रहता है। उसके लिए वर्तमान काल एक असुविधाजनक धारा है जो भूत और भविष्यत् को मिलाने वाले उसके बनाये हुए पुल के नीचे से बहती है।''[१३] भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि के अन्तर को अज्ञेय न केवल क्षण के आधार पर व्याख्यायित करते हैं वरन् पश्चिम के एकरेखीय कालबोध और भारत के चक्रावर्ती काल बोध को भी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट करते हैं। अज्ञेय के काल-चिन्तन की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रमेश ऋषिकल्प उचित ही लिखते हैं- ''अज्ञेय के काल-चिन्तन में हमें कालबद्धता दिखायी देती है। वह क्षण को स्मरण के माध्यम से नहीं जीना चाहते, वह उसे वर्तमान के क्षण के रूप में जीना चाहते हैं और जीते भी हैं। वह स्पष्ट तौर से मानते हैं कि काल पर विजय स्मृति के माध्यम से नहीं, केवल शुद्ध वर्तमान के आत्म साक्षात्कार में ही हो सकती है क्योंकि अतीत की स्मृतियाँ, आकांक्षाएँ अपना अस्तित्व वर्तमान में समाहित कर देती हैं। भविष्य का अस्तित्व उतना ही है जितना वह आशाओं और सम्भावनाओं को वर्तमान की अजस्र धारा में प्रवाहित करता है।''[१४] अतः यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय का काल-चिन्तन भारतीय स्मृति की विशिष्टता और महत्ता को उजागर करता है।

अज्ञेय के संस्कृति-चिन्तन का महत्त्व इस दृष्टि से बढ़ जाता है कि उन्होंने भारतीयता और भारतीय आधुनिकता तथा स्वातन्त्र्य चेतना आदि बिन्दुओं पर अपने अनेक वैचारिक निबन्धों में विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किया है। अज्ञेय 'निरन्तर संस्कारवान होने की प्रक्रिया' को ही आधुनिकता मानते हैं। उनकी दृष्टि में वही संस्कृति श्रेष्ठ है जो निरन्तर अपने को संस्कारित और परिमार्जित करती रहती है। अज्ञेय यह मानते हैं कि आधुनिक होना वस्तुतः युगीन या समकालीन होना है। आधुनिकता को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं- ''आधुनिकता काल के साथ नये प्रकार का सम्बन्ध है या होना चाहिए। आधुनिकता मूलतः एक नये ढंग का कालबोध है और हमारे संवेदन का उस पर आधारित रूपान्तर बड़े दूरव्यापी परिणाम रखता है।''[१५] अतः यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय आधुनिकता को गहरे स्तर पर काल से सम्बद्ध मानते हैं और बदली हुई संवेदनात्मक दृष्टि को उसका प्रमुख अभिलक्षण मानते हैं। आधुनिकता और आधुनिकीकरण के विभेद को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं ''साधारण व्यक्ति-पढ़ा लिखा व्यक्ति भी प्रायः यह मूल कर बैठता है कि आधुनिकता, जो कि एक दृष्टि है, संवेदन का एक संस्कार है, और आधुनिकीकरण, जो कि समाज का अथवा आर्थिक संस्थान का बाहरी रूपान्तरण है, दोनों का पर्यायवाची मान लेता है।''[१६] इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अज्ञेय आधुनिकता को आन्तरिक और आधुनिकीकरण को बाह्य

मानते हैं। अज्ञेय यह भी मानते हैं कि आधुनिकता आधुनिकीकरण, शहरीकरण, यान्त्रिकीकरण और पश्चिमीकरण इन सबसे बिलकुल अलग है। वे लिखते हैं- ''यह बिल्कुल सम्भव है कि बाहर से हम पूरी तरह शहरी साहब हो जायँ, हर आधुनिक यान्त्रिककरण उपकरण घर में लगा लें और फिर इस आधुनिकीकरण, शहरीकरण, यान्त्रिकीकरण और पश्चिमीकरण के बाद भी हमारा सम्बवेदन और हमारी दृष्टि घोर रूप से अनाधुनिक रह जाय, चेतना के स्तर पर हम किसी प्राचीनकाल में ही जीते रहे।''[१७] निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि पश्चिमीकरण आधुनिकीकरण नहीं है। इस तरह अज्ञेय भारतीय आधुनिकता के स्वरूप को उजागर करते हैं।

अज्ञेय ने भारतीयता के प्रश्न पर भी अपने अनेक वैचारिक निबन्धों में विचार व्यक्त किया है। प्रसिद्ध कवि-आलोचक नन्दकिशोर आचार्य को दिये गये एक साक्षात्कार में वे कहते हैं- ''भारतीयता का मतलब है भारतीय अस्मिता की पहचान-व्यक्ति के सामने एक आत्मबिम्ब हो जो कि भारतीय हो। लेकिन यह भी है कि उसको एक सीढ़ी में एक स्थान पर मैं रख देना चाहूँगा, क्योंकि भारतीय हो जाने के नाते ऐसा नही है कि मनुष्य-मनुष्य नहीं रहेगा। तो एक शर्त यह रहेगी की कि एक मानव के नाते मैं क्या हूँ, कहाँ हूँ, मानवता की एक पहचान होनी चाहिए।''[१८] अज्ञेय यह तो मानते हैं कि भारतीय चित्त और मानस सर्वथा अलग होता है, फिर भी वे स्मरण कराना नहीं भूलते कि मानवता सर्वोपरि है। अपनी चर्चित कृति 'आत्मनेपद' में भारतीयता को और अधिक स्पष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं- ''भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, काल की भावना, काल के आदि-हीन अन्त-हीन प्रवाह की भावना और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षरों की सरणी नहीं, काल हमसे, भारतीय जाति से सम्बद्ध विशिष्ट और निजी क्षरों की सरणी के रूप में।''[१९] इस प्रकार अज्ञेय भारतीय दृष्टि की विशिष्टता और उसकी महत्ता को उजागर करते हैं। अज्ञेय की इसी चिन्तन दृष्टि की महत्ता को प्रकाशित करते हुए प्रो० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय उचित ही लिखते हैं- ''अज्ञेय ने भारतीयता, जातीय स्मृति और दिक् तथा काल पर विस्तृत विचार किया है। इन विचारों से साहित्यिक मान्यताओं की भी निर्मिति हुई है। पहले भारतीयता को ही ले। अज्ञेय भारतीयता से व्याकुल साहित्यकार नहीं हैं, न ही उसको लेकर उनके मन में कोई भावुकतापूर्ण आकर्षण है। उसका आलोचनात्मक ढंग से विवेचन करते हैं तथा भारतीय और भारतीय संस्कृति सम्बन्धी धारणा की भ्रान्ति को भी दूर करने का प्रयास करते हुए उसका एक सही और स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास करते है।''[२०] वस्तुतः अज्ञेय एक ऐसे रचनाकार थे जिन्होंने निरन्तर भारतीय मानव-मूल्यों को दृष्टि से संवलित है और पश्चिम का अनुकरण वहाँ बिलकुल भी नहीं है। हिन्दी आलोचना जगत् में यह भ्रम फैला हुआ है कि अज्ञेय पर अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक टी०एस० एलियट का बहुत गहरा प्रभाव है। यहाँ इस तथथ्य की अनदेखी की

जाती है कि अज्ञेय ने भले ही एलियट के निबन्ध 'ट्रेडिशन एण्ड इनडिविजुअल टैलेण्ट' का 'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक से अनुवाद किया फिर भी संस्कृति-चिन्तन और स्वातन्त्र्यचेतना आदि अनेक बिन्दुओं पर वे इलियट से अलग दृष्टिकोण रखते हैं।

अज्ञेय के संस्कृति-चिन्तन का महत्त्व इस दृष्टि से बढ़ जाता है कि उन्होंने स्वाधीनता की चेतना को किसी भी संस्कृति का सर्वप्रमुख गुण माना है। अज्ञेय का स्वयं का व्यक्तित्व भी स्वातन्त्र्यचेता था। इस सन्दर्भ में प्रतिष्ठित कवि-आलोचक डॉ० रमेशचन्द्र शाह की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं- ''अज्ञेय का जीवन-दर्शन, अज्ञेय के व्यक्तित्व और कृतित्व की 'मूल अभीत्सा और जीवनव्यापी खोज क्या है? वह क्या है जो उसके विद्रोह और उसकी आस्था का भी आधार और सृजनशीलता को भी उत्प्रेरित करने वाली चीज है? निश्चय ही वह स्वातन्त्र्य की ही अभीप्सा है, स्वाधीनता की ही खोज है : स्वाधीनता जो निरन्तर आविष्कार, शोध और संघर्ष माँगती है।''[२१] रमेशचन्द्र शाह का यह कथन अज्ञेय के सर्वांगीण व्यक्तित्व का निदर्शन है। अज्ञेय किसी भी समाज अथवा व्यक्ति के विकास के लिए स्वाधीनता को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं। स्वाधीनता को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं- ''स्वाधीन होना अपनी चरम सम्भावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है।''[२२] अज्ञेय के कहने का आशय यह है कि स्वाधीनता हमें उन्मुक्त विकास का अवसर प्रदान करती है तथा सफलता के शीर्ष पर स्थापित करती है। अज्ञेय स्वाधीनता को बहुत बड़ा मूल्य मानते हैं। उनकी पंक्तियाँ द्रष्टव्य है ''स्वाधीनता के योद्धा को सबसे पहले एक करुणासम्पन्न स्वाधीनकर्मी होना होगा, जो दूसरे की स्वाधीनता के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान करने को सदैव प्रस्तुत है। स्वाधीनता की सच्ची कसौटी 'मैं' नहीं 'ममेतर' है।''[२३] इस प्रकार अज्ञेय का स्वातन्त्र्य-दर्शन 'आत्म' के स्थान पर 'अन्य' को अधिक महत्त्व देता है।

अज्ञेय का संस्कृति चिन्तन एकायामी न होकर समग्र दृष्टि को केन्द्र में रखता है। अज्ञेय किसी भी प्रकार की संकीर्णता को स्वीकार नहीं करते हैं और मूल्यहीनता को किसी भी राष्ट्र अथवा समाज के पिछड़े होने का प्रमुख कारण मानते हैं। मनुष्य मात्र को वे मूल्यों का स्रष्टा और नये प्रतीकों का सृजनकर्त्ता मानते हैं। सांस्कृतिक विकास की धुरी वे व्यक्ति के विकास को मानते हैं। उनकी पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं- ''संस्कृति और व्यक्ति स्वातन्त्र्य का गहरा और अनिवार्य सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक विकास व्यक्ति स्वातन्त्र्य का ही विकास है, अथवा व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विकास ही सांस्कृतिक विकास की कसौटी है।''[२४] इस प्रकार अज्ञेय संस्कृति को व्यक्ति की स्वाधीन चेतना से जोड़ते हैं। संस्कृति व्यक्तित्व का विस्तार करती है। अज्ञेय लिखते हैं- ''संस्कृति व्यक्तित्व का विस्तार और प्रसार माँगती है, संकोच या छंटाव नहीं। संस्कारी व्यक्ति बराबर नयी उपलब्धियों को आत्मसात करता चलता

है। संस्कृति व्यक्ति की आत्म-सज्जा या अलंकृति किसी व्यक्ति या वस्तु के मुकाबिले में, उसके विरुद्ध, उभर कर आने के लिए नहीं होती-जैसे घर या बैठक की सजावट, या मित्र-मण्डली या प्रेमी, बल्कि वह उन्हें अपने में घेर लेती है।''[२५] हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार अज्ञेय उन्मुक्त और आकाशधर्मी व्यक्तित्व वाले थे, उनका संस्कृति सम्बन्धी दृष्टिकोण भी उसी प्रकार समग्र और बहुआयामिता लिए हुए है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. रामकमल राय, अज्ञेय के साहित्य में मनुष्य की नियति, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, प्रथम संस्करण २०१४ ई०, पृ० १०५

२. रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण २००० ई०, पृ० १११

३. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० २७५-२७६

४. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० २७३

५. नन्दकिशोर आचार्य (चयन एवं सम्पादन), अज्ञेय के उद्धरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण २०१६ ई०, पृ० १५

६. अज्ञेय, सर्जना और सम्बन्ध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १६८५ ई०, पृ० ३१

७. अज्ञेय, सर्जना और सम्बन्ध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १६८५ ई०, पृ० २१

८. अज्ञेय, सर्जना और सम्बन्ध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १६८५ ई०, पृ० २१-२२

९. कृष्णदत्त, पालीवाल (सं०), सच्चिदानन्द वात्स्यान 'अज्ञेय' के अभिभाषण, भाग-एक, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, संस्करण २०१२ ई०, पृ० १२६

१०. अज्ञेय, सर्जना और सम्बन्ध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १६८५ ई०, पृ० २७०

११. अज्ञेय, शाश्वती, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण १६६३ ई०, पृ० २१

१२. कृष्णदत्त, पालीवाल (सं०), सच्चिदानन्द वात्स्यान 'अज्ञेय' के अभिभाषण, भाग-एक, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, संस्करण २०१२ ई०, पृ० ३२५-३२६

१३. नन्दकिशोर आचार्य (सं०), खुले में खड़ा पेड़, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम संस्करण १६६६ ई०, पृ० १७६

१४. रमेश ऋषिकल्प, अज्ञेय का चिन्तन, मेधा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण २०११ ई०, पृष्ठ ८७-८८
१५. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० ३०२
१६. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० ३०३
१७. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० ३०३
१८. कृष्णदत्त, पालीवाल (सं०), अज्ञेय से साक्षात्कार, आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१० ई०, पृ० ५१
१९. अज्ञेय, आत्मनेपद, भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली, पुनर्नवा, संस्करण २००३ ई०, पृ० ७७
२०. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, अज्ञेय की आलोचना दृष्टि, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०११ ई०, पृ० ५७
२१. रमेश चन्द्र शाह, अज्ञेय वागर्थ का वैभव, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९५ ई०, पृ० ९९
२२. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० ९९
२३. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० १००
२४. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण २००५ ई०, पृ० ४२
२५. नन्दकिशोर आचार्य (सं०), खुले में खड़ा पेड़, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम संस्करण १९९९ ई०, पृ० १७४-१७५

**-अध्यक्ष (हिन्दी-विभाग)**
**मणिपुर विश्वविद्यालय, कांचीपुर**
**इम्फाल-७९५००३ (मणिपुर) एवं**
**सह अध्येता, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान**
**शिमला-१७१००५**

# प्राचीन भारत में इतिहास लेखन की परम्परा

–डॉ० शिवाकान्त त्रिपाठी

इतिहास शब्द का प्रथम उल्लेख वैदिक वाङमय में प्राप्त होना ही इस बात का प्रमाण है कि भारत में प्राचीन काल में ही इतिहास लेखन की परम्परा का विकास हो चुका था। ध्यातव्य है कि भारत श्रुति परम्परा का देश रहा है जहाँ सदियों तक मन्त्र द्रष्टा ऋषियों की वाणी मौखिक रूप से किन्तु अत्यधिक प्रामाणिकता के साथ प्रक्षिप्तहीन यात्रा करती रही। लिपिबध्द न होने पर भी यह मौखिक परंपरा भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की आधारशिला बनी। वैदिक वांगमय में प्राप्त नाराशंसी, आख्यान, गाथा इत्यादि शब्द मौखिक इतिहास के ही विभिन्न स्वरूपों के परिचायक हैं। इस प्रकार इन मौखिक इतिहासों का पुराणों की ही भांति अथवा पुराणों से अविच्छिन्न अपना महत्त्व रहा है तथा ऐसा माना गया कि बिना इतिहास और पुराण के वेदों के मर्म को समुचित ढंग से नही समझा जा सकता है। समूचे विश्व में इतिहास शब्द का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है–

**स वृहती दिशां अनुत्य चलत**
**ताम इतिहासश्च पुराणं च गाथाश्च**
**नाराशंसी चानुव्यचलतः।।**[1]

अर्थात महान लक्ष्य की ओर गतिशील राष्ट्र का अनुसरण इतिहास, पुराण, गाथा एवं नाराशमी करते हैं। प्राचीन भारत में इतिहास और पुराण का अध्ययन ज्ञान की एक शाखा के रूप में किया जाता था।[2]

**इतिहास पुराणे च तथा व्याकरणं प्रभो।**
**मीमांसा न्यायशास्त्रं च धर्म शास्त्राण्य आधाण छोक्षण।।**[2]

यही कारण है कि शतपथ ब्राह्मणकार इतिहास विद्या को इतिहास वेदों की संज्ञा देता है। यास्क ने निरुक्त में ऋग्वेद के दशममण्डल के एक मंत्र को ऋक गाथा तथा इतिहास का सम्मिश्रण बताया।[3] कौटिल्य लिखता है कि इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त आख्यान, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र सभी आते हैं। जैसा कि कौटिल्य एक राजा को मध्यान्ह के समय इतिहास श्रवण करना आवश्यक बताता है। छान्दोग्य उपनिषद् तो इतिहास को पंचम वेद के रूप में प्रख्यापित करता है। इतिहास पंचमो वेदः।[4] प्राचीन काल मे वैदिक काल से ही

ऐतिहासिक साहित्य के सृजन की परंपरा किसी न किसी रूप में विद्यमान रही। ऋग्वैदिक संस्कृति की पृष्ठभूमि पर ही उत्तरवैदिक संस्कृति का विकास हुआ। उत्तर वैदिक काल का इतिहास हमें ऋग्वेद के आधार पर ही विकसित संहिता ग्रन्थ (सामवेद ,यजुर्वेद एवं अथर्ववेद), ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों से ज्ञात होता है जिनका समय लगभग १००० से ६०० ई.पू. माना जाता है। इस प्रकार १५०० से ६०० ई.पू. तक का इतिहास हमें वेदों के माध्यम से ही ज्ञात होता है। जैसा कि यास्क का मानना है कि ऋग्वेद में ही विविध बह्म के अन्तर्गत इतिहास मिश्र मंत्र प्राप्त होते हैं-

**त्रितं कूपे वहित मेतत सूक्तं प्रतिबभौ।**
**तत्रं ब्रह्मोतिहास मिश्रिमत्रङमिश्र गाथा मिश्रं भवति।।**[५]

ऋग्वैदिक ऋचाओं में ऐसे अनेक सन्दर्भ स्पष्टतः प्राप्त होते हैं जो राजाओं की प्रशंसा में लिखे गये हैं। डॉ. वी. एस. पाठक का कहना है कि भारत में प्राचीनतम ऐतिहासिक साहित्य के रूप में बिखरे हुए वैदिक मंत्र है जो तत्कालीन राजाओं के सैनिक अभियानों की प्रशंसा में लिखे गये हैं।[६] यास्क ने अपने निरुक्त में ऋचाओं के विशुद्धीकरण के लिये वैदिक कथाओं को 'इतिहास' माचक्षते के रूप में उद्धृत किया है। वैदिक साहित्य में इतिहास पुराण का जो उल्लेख प्राप्त होता है, वह पुराण से भिन्न स्वतंत्र रूप से बिखरे हुए विभिन्न अनुवांशिक रूपों को प्रारम्भिक अवस्था में है। मैक्समूलर वैदिक साहित्य में जिस सामग्री को 'पुराण नाम से अभिहित किया गया है, उसी का स्थान रामायण एवम महाभारत ने लिया है। देवापि और शान्तनु की कथा को यास्क ने अपने निरुक्त में इतिहास कहा है तथा विश्वामित्र के सुदास पैजवन के पुरोहित होने की घटना को भी यास्क ने इतिहास कहा है।

**यथा-'तत्रे इतिहास माचक्षते विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितावभूतः।**[७]

इससे यह प्रकट होता है कि वैदिक काल में इतिहास के अनेक अनुषंगिक उपकरण मौखिक परम्परा में विद्यमान थे जिनका विकास कालान्तर में 'इतिहास पुराण' परम्परा के अन्तर्गत हुआ। सामान्यतया यह माना जाता है कि वैदिक युगीन प्राचीन इतिहासों का सम्प्रेषण मौखिक रूप से ही सम्पन्न होता था। वैदिक मौखिक शिक्षा परम्परा में ऐतिहासिक ज्ञान की अक्षुण्णता क्रमागत शिक्षक-शिष्य परम्परा के कारण ही सम्भव हो सकी। उत्तर वैदिक काल से इतिहास की श्रुति परम्परा के पाँच विभिन्न स्वरूप हो गये थे- गाथा, नाराशंसी, आख्यान, इतिहास एवं इतिहास पुराण।[८] वेदकालीन भृग्वांगिरस एवं सूत आदि की मौखिक इतिहास की परम्पराएँ श्रुतिबद्ध रहकर शताब्दियों तक विद्यमान रहीं। इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के बहुत से प्रमाण एवम अवशेष वैदिक वाड्मय में बिखरे पड़े हैं। जैसा कि डॉ० गिरजा प्रसाद मिश्र का कहना है कि समय की गति के साथ-साथ ऐतिहासिक साहित्य के स्वरूप में

परिवर्तन होता है तथा अन्ततः रामायण, महाभारत और पुराणों के माध्यम से एक सुनिश्चित स्वरुप प्राप्त कर लेता है एवं यास्क के समय तक एक विशिष्ट प्रकार की ऐतिहासिक रचनाओं का अस्तित्त्व प्रतिष्ठापित हो चुका था।[६] प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के विभिन्न स्वरूप दिखालाई पड़ते हैं और यही कारण है कि गिरजा प्रसाद मिश्र जी प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन को अधोलिखित चार भागों में विभाजित करते हैं-

१. धार्मिक कथाओं तथा पुराण कथाओं के रूप में इतिहास
२. शासनवंशीय प्रलेखों के रूप में इतिहास
३. जीवन चरित्र के रूप में इतिहास
४. इतिवृत्त के रूप में इतिहास

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत ऐसे साहित्यिक ग्रन्थों को सम्मिलित किया जाता है, जिसमें अतीत का विवरण अथवा ऐतिहासिक सामग्री धार्मिक कथाओं और पौराणिक कथाओं के रूप में प्राप्त होती है। जैसा वैदिक साहित्य में दाशराज्ञ युध्द का ऐतिहासिक महत्त्व सर्वविदित है। ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य से हमें न केवल धार्मिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक पक्षों की जानकारी प्राप्त होती है वरन् समसामयिक जीवन के विविध पक्षों यथा- सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन का भी चित्रण प्राप्त होता है जो कि एक इतिहासकार के लिए अत्यावश्यक है। ऐतरेय ब्राह्मण से राज्याभिषेक के नियम, शतपथ ब्राह्मण में गान्धार, शल्य, कैकय कुरु, पांचाल इत्यादि राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐतिहासिक कथाओं का सबसे सुंदर तथा क्रमबध्द विवरण हमें पुराणों में प्राप्त होता है।

पौराणिक इतिहास लेखनः प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक कथाओं का क्रमबद्ध विवरण पुराणों में प्राप्त होता है जिनकी संख्या अठारह है। जैसा कि ए. के. वार्डर महोदय प्राचीन भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य एवं मार्कण्डेय पुराण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं। कालान्तर में पुराणों की संख्या अठारह से भी आगे बढ़ गई। नवीनतर अथवा अल्प प्रसिद्ध ग्रन्थों को प्रायः उप पुराण की संज्ञा दी गईं जबकि प्रमुख पुराणों को महापुराणों की संज्ञा दी गई।[१०] जैसा कि हाजरा नामक विद्वान ने १०० उपपुराणों की सूची दी है। पुराणों के रचियता लोमहर्ष अथवा उनके पुत्र उग्रश्रवा को माना जाता है। ध्यातव्य है कि अधिकांश पुराणों की रचना तीसरी चैथी शताब्दी ई. में की गई थी। पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व को ओर सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय पार्जिटर महोदय को जाता है। जैसा कि अमरकोश में पुराणों के पाँच विषय बताये गये है -

**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।**
**वंशानुचरितम चैव पुराणम पचलक्षणम।।**[११]

(१) सर्ग अर्थात् जगत की सृष्टि।

(२) प्रतिसर्ग अर्थात् प्रलय के उपरान्त पुनः जगत को सृष्टि।

(३) वंश अर्थात् ऋषियों तथा राजाओं की वंशावली।

(४) मन्वन्तर अर्थात् महायुग, कुछ विद्वानों ने मन्वन्तराणि का तात्पर्य मनुओं की वंशावली से लिया है।

(५) वंशानुचरित अर्थात् प्राचीन राजकुलों का इतिहास।

इनमें से सर्ग, प्रतिसर्ग एवं मन्वन्तर ब्रह्माण्ड स्वरूप के विषय से सम्बद्ध है एवं वंश तथा वंशानुचरित मानवीय इतिहास से सम्बन्धित है। ध्यातव्य है कि पुराणों में एक अध्याय का नाम भुवनकोश है जिसका अर्थ भारतवर्ष के भूगोल का विवरण देने से है। गिरजाशंकर प्रसाद मिश्र के अनुसार, ''यह भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टिकोण से अस्तित्वमान भारतवर्ष नहीं अपितु वह समस्त भू-क्षेत्र है जो भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत समझा गया। है। इस कारण भारत के विवरण के प्रसंग में पुराण मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया को भी सन्निविष्ट करते हैं जो वस्तुतः इससे बाहर हैं। सामान्यरूपेण चौथी शताब्दी तक के भारत के भूगोल के विषय में पुराणों में बड़ी मूल्यवान सूचनाएं निहित हैं।[१२]

पुराण प्राचीन काल से लेकर गुप्त काल के इतिहास से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी का स्रोत हैं। मत्स्य पुराण सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक माना जाता है, इसमें आन्ध्र (सातवाहन) वंश के इतिहास की जानकारी संकलित है। पुराणों की भविष्य शैली में कलियुग के राजाओं की तालिकाएं दी गई है। ध्यातव्य है कि प्राचीन भारत के शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, कण्व, सातवाहन एवं गुप्त शासकों की जानकारी के लिए पुराण एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। इस प्रकार पुराणों में प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन की परम्परा विद्यमान थी। पुराण वैदिक परम्परा के पोषक ग्रन्थ थे एवं उनमें मानव जीवन की समग्रता, पूर्ण विकास एवं समाजीकरण का भी पर्याप्त ध्यान रखा गया है। पुराणों में निहित ऐतिहासिक सूचनाएँ हमें तत्युगीन राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के विकास से अवगत कराती हैं। इनमें हम समसामयिक जीवन के विविध पक्षों का भी साक्षात्कार कर सकते हैं। जैसा कि प्रसिद्ध पुराण मर्मज्ञ प्रोफेसर एच. एन. दुबे का कहना है कि ''पुराणों में मानव के परिवेश, भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि के सांसारिक एवं बाह्य दृश्यों में रखकर मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्थितियों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। निश्चित रूप से पौराणिक जीवन दृष्टि से अनुशासित भारतीय इतिहास परम्परा अन्य प्राच्य इतिहास परम्पराओं से व्यापक एवं सोद्देश्य मानी जा सकती है।[१३] वैदिक साहित्य में विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक प्रलेखों का अस्तित्त्व, वंश, गाथा, नाराशंसी एवं दान स्तुति के रूप में प्राप्त होने लगता है।

चीनी परम्परा के अनुसार प्राचीन भारतीय राजवंशों ने भी अपने यहां इतिहास लेखन की प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा दिया था और कौटिल्य के शब्दों में कहें तो यह परम्परा मौर्य काल से स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है। ध्यातव्य है कि अशोक के एरागुडी लघुशिलालेख में वर्णित करणिक नामक अधिकारी लेखाधिकारी ही था।[१४] गुप्त शासकों के यहाँ महाक्षपटलिक विभाग जिनका प्रमुख अधिकारी अक्षपटलाधिकृत होता था, का कार्य ही राजा के सभी आदेशों को सुरक्षित करना एवं राजकीय आय-व्यय को सुरक्षित रखना था। हर्ष के काल में यह परम्परा और अधिक विकसित हुई जहाँ अक्षपटलाधिकृत उसकी मंत्रिपरिषद् का प्रमुख प्रतिनिधि बन जाता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन की परंपरा में जीवन चरित का भी विशिष्ट महत्त्व है। अश्वघोषकृत बुध्दचरित, भवभूति विरचित महावीरचरित एवं उत्तररामचरितम्, कालिदासकृत मालविकाग्निमित्रम, वाक्पति का गौडवहो, श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम्, बाणभट्टकृत हर्षचरित, बिल्हणकृत, विक्रमांकदेवचरित, पदमगुप्तकृत नव-सहसांकचरित इत्यादि में विभिन्न शासकों का जीवन वृत्त एवं तत्युगीन इतिहास की विशद जानकारी प्राप्त होती है। ध्यातव्य है कि कौटिल्य आख्यायिका (जीवन चरित) को इतिहास के एक अंग के रूप में ही स्वीकार करता है और अपने अर्थशास्त्र में इतिवृत्त को भी इतिहास की संज्ञा देता है। इतिवृत्त की दृष्टि से कल्हण की राजतरंगिणी का विशेष स्थान है। ध्यातव्य है कि राजतरंगिणी शासन वंशीय एक ऐसा इतिवृत्त है जिसे पूर्ववर्ती इतिवृत्तों, प्राचीन लेखो तथा राजकीय प्रलेखों के आधार पर लिखा गया है। कल्हण एक ऐसा इतिहासकार है जिसकी लेखन प्रविधि का स्वरूप वैज्ञानिक है तथा जो पूर्वाग्रह से मुक्त होकर निष्पक्ष तथा तिथिक्रमानुसार घटनाओं का वर्णन करता है और कल्हण की यही विशेषता उसे एक वस्तुनिष्ठ इतिहासकार के रूप में प्रतिष्ठापित करता है।[१६]

**श्लाध्यः स एव गुणवान् रागद्वेष बहिष्कृताः।**
**भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती।।**

एक इतिहासकार के रूप में कल्हण एवं उसकी कृति 'राजतरंगिणी' कतिपय विद्वानों के इस अभिमत कि प्राचीन भारतीय इतिहासकार नहीं थे, उनमें इतिहास बोध एवं इतिहास लेखन के ज्ञान का अभाव था, का खण्डन करने का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करता हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की अवधारणा वाले विद्वानों ने कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' का सांगोपांग अध्ययन नहीं किया था। 'कल्हण ने राजतरंगिणी में अपने इतिहास लेखन के प्रयोजन के साथ-साथ इतिहास लेखन प्रविधि को भी स्पष्ट किया है-

**'दाक्ष्यं कियदिदं तरमादस्मिनभूतार्थवर्णने।**

**सर्वप्रकारं स्खलिते योजनाय ममोदमः।।**[१७]

अर्थात् भूतकाल में वर्णित कथावस्तु के पुनर्लेखन का उद्देश्य जाने बिना सुजनों का मुझसे विमुख हो जाना उचित नहीं है। भूतकालिक रचनाएँ हर प्रकार से स्खलित हो जाने के कारण उनके समायोजन द्वारा एक क्रमबद्ध इतिहास के प्रस्तुतीकरण हेतु मैं यह उद्यम कर रहा हूँ। साथ ही कल्हण यह भी बताता है कि उसने अपने इतिहास लेखन हेतु स्रोतों के रूप में सुव्रत की रचनाओं, क्षेमेन्द्र की नृपावली, हेलाराज की पार्थिवावली, नीलमन पुराण (एक स्थानीय पुराण अर्थात् स्थल पुराण जो कि कश्मीर की उत्पत्ति तथा इतिहास के विषय पर लिखा गया है), पदम् मिहिर और छविल्लाकर की रचनाओं आदि साहित्यिक स्रोतों के साथ-साथ मन्दिरों के शिलालेख, भूदान पत्र, पुराभिलेख एवं मुद्राओं आदि पुरातात्विक स्त्रोतों का भी उपयोग किया है[१८] और यह सब इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कल्हण इतिहास लेखन प्रविधि के वैज्ञानिक स्वरूप से पूर्णतः परिचित था।

कल्हण के इतिहास लेखन की एक और प्रमुख विशेषता, जो उसे प्राचीन भारतीय इतिहासकारों की श्रेणी में अग्रणी स्थान पर प्रतिष्ठित करती है, वह यह है कि उसने अपने इतिहास लेखन में मात्र अतीतकालिक स्त्रोतों का उपयोग ही नहीं किया है अपितु उक्त स्रोतों का आधुनिक इतिहासकारों की भाँति आलोचनात्मक परीक्षण भी प्रस्तुत किया है। सुव्रत कृत 'कश्मीर के इतिहास' की समीक्षा करते हुए कल्हण बताता है कि उसका यह कृतित्व अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण होने के कारण जन सामान्य के लिये बोधगम्य एवं ग्राह्य नहीं है।[१९] क्षेमेन्द्र की नृपावलियों को कल्हण नितांत असावधानीपूर्वक किया गया कार्य बताता है और उसका मानना है कि इसीलिए इनका कोई भी अंश निर्दोष नहीं है।[२०]

इस प्रकार कल्हण ने जिन कारणों को लेकर पूर्ववर्ती ऐतिहासिक स्रोतों की आलोचना की है, उन कारणों को अपने इतिहास लेखन में दूर करने का भरसक प्रयास किया है। इस तारतम्य में वे स्वयं ही लिखते हैं कि मेरा यह ग्रन्थ (राजतरंगिणी) पुरातन ग्रन्थों से उत्पन्न भ्रांन्तियों को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा। उनका यह कथन उनके इतिहास बोध के साथ-साथ इतिहास लेखन प्रविधि को प्रखरता का भी परिचायक है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में पाश्चात्य इतिहासकारों तथा कतिपय भारतीय इतिहासकारों द्वारा भी यह मिथ्या रोपण करना कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव था, तथा इतिहास लेखन के प्रति वे उदासीन थे एवं उनमें विश्व निर्माण की क्षमता का अभाव था, असत्य एवं बड़ा ही हास्यास्पद लगता है, क्योंकि भारतीयों ने वर्तमान जीवन को कभी भी नगण्य नही माना यदि इतिहास कर्मप्रधान रहा है तो भारतवर्ष सर्वदा महापुरुषों की कर्मभूमि

रहा।[२२] प्राचीन भारतीयों के जीवन का मूल मंत्र ही यही था कि इह चैक वेदथि अर्थात सत्य को यहीं जानना है तथा इसी जीवन में ही धर्म का आचरण करना है। ध्यातव्य है कि चीनी एवम यूनानी इतिहासकारो ने राज्य को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए राजा को देव तुल्य बताया क्योंकि उनकी दृष्टि में राजा, राज्य और उसकी समृध्दि का मूल्य अधिक था, जबकि प्राचीन भारतीय मनीषा ने अध्यात्म कर्म एवं धर्म को सर्वोपरि मूल्य के रूप में देखा तथा उसे वेद, उपनिषद, ब्राह्मण एवं सूत्र साहित्य के रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास करते हुए एक गौरव पूर्ण इतिहास का निर्माण किया। वस्तुतः समूचे विश्व में भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जिसने इतने सुदूर अतीत के बड़े भाग को सुरक्षित रखा है। भारतीयों का सदैव से यह विश्वास रहा है कि हम अतीत के वंशधर है जिनकी सुरक्षा हमारा परम कर्तव्य हैं। जैसा कि प्रो बी एस पाठक का मानना है कि जब से प्रचीन भारतीय साहित्य है तभी से भारतीयों में इतिहास बोध रहा।[२३] छान्दोग्य उपनिषद में इतिहास को पाचवें वेद के रूप में प्रतिष्ठापित करना ही इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की प्राचीनता का परिचायक है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीयों में न तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव था तथा नही वे इतिहास के प्रति उदासीन थे।

बौध्द इतिहास लेखनः बौध्द साहित्य में त्रिपिटकों का भी इतिहास की दृष्टि से अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये त्रिपिटक तीन है, जिनमें विनयपिटक, सुत्तपिटक एवम अभिधम्मपिटक प्रमुख हैं। सुत्तपिटक में बौध्द धर्म के सिद्धातों एवं उपदेशों का संकलन महात्मा बुध्द के प्रिय शिष्य आनंद द्वारा किया गया है। विनय पिटक में बौध्द संघ के नियम और आचार की शिक्षाएँ हैं और इसका संकलन बुध्द के शिष्य उपालि के द्वारा किया गया है जबकि अभिधम्मपिटक में बौध्द धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों का संकलन हैं। इन साहित्यों से तात्कालिक समाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास की जानकारी मिलती है। बौद्ध ग्रंथ दीर्घ निकाय में भगवान बुद्ध के मुख से कहे गए वचनों को संकलित किया गया है, इन्ही ग्रंथों में प्राचीन भारतीय इतिहास की घटनाओ और परंपराओं की चर्चा की गई है। इन्ही चर्चाओ के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि जनता की समिति द्वारा चुना गया प्रथम शासक महासम्मत अर्थात महान निर्वाचित नाम का था। इसमें पता चलता है कि बौध्द ग्रंथों के संकलनकर्ता सार्वभौमिक इतिहास परंपरा के उस स्वरुप से एक सीमा तक परिचित थे जिसके बारे में पूर्व में पौराणिक इतिहास लेखन के तहत भी चर्चा की गई है।

बौद्ध इतिहास लेखन में प्रायः उन्ही शासक की चर्चा की गई है, जिनके द्वारा किये गये कार्य समाज के लिए एक आदर्श होते थे इनमें इक्ष्वाकु, मान्धाता, भरत, शिवि और जनक प्रमुख हैं। वार्डर महोदय ने इतिहास लेखन का आरंभ विनयपिटक से माना है जिसमें बुद्ध के

परिनिर्वाण के पश्चात लगभग १०० वर्ष बाद द्वितीय बौद्ध संगीति तक की घटनाओं का संकलन है। द्वितीय बौध्द संगीति में बौद्ध संघ स्थविर एवम महासंघिक इन दो शाखाओं में बटने के बाद भी इस सम्प्रदाय ने इतिहास लेखन की परंपराओं को जारी रखा। बौध्द ग्रंथ दीपवंश और महावंश आदि ग्रंथों में प्राचीन भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ संकलित हैं। तेरहवीं शताब्दी के अंत में भारत में बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् कई बौध्द धार्मिक ग्रंथ तिब्बत मे पहुंचकर वहां की भाषा में अनुवादित हो चुके थे। इनमें कंग्युर और तंगयुर प्रमुख हैं। इनकी लगभग ३३० पोथियां हैं। जिनमें २४ लाख के लगभग श्लोक हैं, इन ग्रंथों का महत्त्व यह है कि इनमें भारतीय इतिहास की कई घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है।

वार्डर महोदय ने बौद्ध इतिहास लेखन को मुख्य और गौण (अनुसंगिक) इतिहास लेखन में बांटा है। प्राथमिक और मूल इतिहास लेखन में त्रिपिटक साहित्य को रखा गया है, जो कि किसी भी घटनाओं का पूर्वाग्रहों से मुक्त इतिहास लेखन प्रस्तुत करता है जबकि गौण इतिहास लेखन के तहत महावस्तु निदान कथा, शाक्यमुनि, बुध्द चरित्र, ललित विस्तर इत्यादि को शामिल किया गया है, जिसमें इतिहास की अपेक्षा पौराणिक कथाओं के प्रति अधिक रुचि दिखाई गई है। इस प्रकार से हम देखते है कि बौद्ध इतिहास मुख्यतः प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन की परंपरा का महत्त्वपूर्ण अंग है।

जैन साहित्य में इतिहास लेखनः भारतीय इतिहास के निर्माण में बौद्ध साहित्य की तरह ही जैन साहित्य भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जिनमें आगम और १२ अंगो का स्थान सर्वोपरि है। बौद्ध ग्रंथों की अपेक्षा जैन ग्रंथ बहुत बाद में लिखे गये। यहाँ तक कि कुछ जैन ऐतिहासिक साहित्य का लेखन तो महावीर स्वामी के निर्वाण के १००० वर्षो के बाद भी हुआ। इनमें मुख्यतः आचरांग सूत्र, सूत्र कृतांग उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि महत्त्वपूर्ण है। इन जैन ग्रंथों में सबसे प्राचीन आचरांग सूत्र को माना जाता है जो कि चौथी शताब्दी ई.पू. की रचना है, इसमें महावीर स्वामी के जीवन की कुछ घटनाएँ प्रमुख है।[२६] कुछ जैन ग्रंथों में प्राचीन कालीन सार्वभौम सम्राटों के नाम उल्लिखित है। धर्मसंहिता में उपलब्ध सामग्री के आधार पर उत्तरकालीन जैन लेखकों ने वीर काव्यों का सृजन किया। कई जैन लेखको ने प्राचीन कथाओं को उपदेश परक बनाने और सत्कार्यों एवं दुष्कर्मों का परिणाम बताने के लिए इतिहास को एक नया रूप प्रदान किया जिनमे जिनसेन का हरिवंशपुराण प्रमुख है। कई जैन इतिहासकारो ने जैन तीर्थकरों को सूचियां और उपाख्यानों को देकर भारतीय कालक्रम का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

मौर्य एवं गुप्तकालीन इतिहास लेखन परंपराः प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन की परंपरा

मौर्य और गुप्तकाल में कुछ अधिक परिपक्व हो गई थी। कतिपय ब्राम्हण, बौद्ध और जैन साहित्य भी मौर्यकालीन इतिहास के प्रमुख स्त्रोत हैं। मौर्य कालीन इतिहास लेखन की परंपरा के प्रमुख नाम कौटिल्य का है जिन्होंने इतिहास शास्त्र के महत्त्व से लोगों को परिचित कराया। जैसा कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से लिखा कि तीन वेद मिलकर वेदत्रयी के रूप में जाने जाते हैं। वह इतिहास लेखन ही नहीं अपितु इतिहास श्रवण के महत्त्व पर भी प्रकाश डालता है। कौटिल्य ने इतिहास के अंगो के रूप में पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इत्यादि को शामिल किया गया है। वंश और वंशानुचरित पुराण साहित्य के आवश्यक अंग थे। विष्णु पुराण से हमें मौर्यकालीन इतिहास की जानकारी मिलती है। मौर्यकालीन इतिहास लेखन की एक विशेषता यह भी थी कि इस कल में अभिलेखागारों की स्थापना की जाने लगी। कौटिल्य ने इनके एतिहासिक महत्त्व को परिभाषित किया और बताया कि ये राज्य लेखागार महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अतिरिक्त परंपराओं, व्यवसायों के इतिहास, देश, ग्राम, परिवारों और नियमों का भी लेख रखते थे। मौर्यकाल में संभवत राजाओ ने तत्कालीन घटनाओं को लिपिबद्ध करने के लिए कुछ अधिकारियों की भी नियुक्ति की थी जिनसे सावधानीपूर्वक घटनाओं के लेखन की अपेक्षा की जाती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और अशोक के एरागुडी लघुशिलालेख से इसका अस्तित्त्व प्रमाणित होता है।[२७]

मौर्यकालीन इतिहास लेखन की परंपरा का एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मौर्य सम्राट अशोक महान स्वयं भी तत्युगीन इतिहास को सुरक्षित रखने के प्रति जागरूक था। संभवतः इसीलिए उसने अपनी राजाज्ञाओं को अपने अभिलेखों में उत्कीर्ण कराया, ताकि वह हमेशा के लिए सुरक्षित रह सके। ये अभिलेख तात्कालिक इतिहास की जानकारी का एक महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक साक्ष्य है। मौर्यकाल तक परिपक्व हो चुकी इतिहास लेखन की परम्परा गुप्तकाल तक आते आते और अधिक समृद्ध हो जाती है। वायु पुराण के साथ-साथ विशाखादत का देवी चन्द्रगुप्तम, शूद्रक कृत मृच्छकटिकम, वात्स्यायन के कामसूत्र में गुप्तकालीन शासन व्यवस्था एवं नगर जीवन के विषय में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है। कालिदास की अनेकानेक रचनाओं से गुप्त समाज एवं संस्कृति पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। गुप्तकालीन पुरातात्विक, ऐतिहासिक स्रोतों में अनेकानेक अभिलेखों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। समुद्रगुप्त कालीन इतिहास की जानकारी का सर्वश्रेष्ठ अभिलेखीय प्रमाण 'प्रयाग प्रशस्ति'(प्रयाग स्तम्भ लेख) को माना जाता है। ध्यातव्य है कि 'प्रयाग प्रशस्ति' का रचनाकार समुद्रगुप्त का सन्धिविग्रहिक सचिव हरिषेण था। इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के राज्याभिषेक, दिग्विजय तथा उसके व्यक्तित्व पर विशद् प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार गुप्तकाल में हमें इतिहास लेखन की एक समृद्ध परम्परा के दर्शन होते हैं।

गुप्तकालीन इतिहास लेखन की परम्परा में हरिषेण का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। हरिषेण की 'प्रयाग प्रशस्ति' ब्राह्मी लिपी में एवं विशुद्ध संस्कृत भाषा में चम्पू शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'प्रयाग प्रशस्ति' में समुद्रगुप्त की दिग्विजय ही नहीं अपितु उसकी दिग्विजय के उद्देश्य सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने (धरणि बन्ध) की भी जानकारी प्राप्त होती है। गुप्तकालीन महाकवि कालिदास भी गुप्तकालीन इतिहास परम्परा के एक प्रमुख प्रतीक थे। जिनकी रचनाओं में भी तत्युगीन इतिहास प्रतिबिम्बित होता है।

गुप्तयुगीन इतिहास लेखन की परम्परा के समृद्ध होने की जानकारी इस बात से भी होती है कि मौर्यकाल में हम इस बात का अनुमान लगाते हैं कि मौर्यकालीन अधिकारियों द्वारा तत्युगीन घटनाओं का लेखन किया जाता होगा और सम्भवतः ऐसे किसी विभाग के अस्तित्व के प्रमाण अर्थशास्त्र से मिलते हैं परन्तु गुप्त काल में तो हमें स्पष्ट रूप से गुप्त अभिलेखों में महाक्षपटलिक विभाग के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं जिसका प्रमुख कार्य राज्य के सभी आदेशों को सुरक्षित रखना और राजकीय आय-व्यय के ब्यौरे को सुरक्षित रखना था। इस विभाग का प्रमुख अधिकारी 'अक्षपटलाधिकृत' कहलाता था जिसे राजकीय प्रलेखों का प्रधान संग्राहक भी कहा जा सकता है। गुप्तकालीन यह परम्परा हर्ष के काल तक और समृद्ध हो जाती है। हर्ष की मंत्रिपरिषद् में 'अक्षपटलाधिकृत' का विशिष्ट स्थान हो जाता है। मधुबन ताम्र लेख में अक्षपटलिक ईश्वरगुप्त एवं बाँसखेरा ताम्रपत्र में अक्षपटलिक के रूप में भानू का उल्लेख मिलता है।[२८] हर्ष के काल में करणिक नामक कर्मचारी का भी उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः लेखक था, हर्ष के समय तक अक्षपटलिक विभाग की निरंतरता का समर्थन युवान च्वांग के विवरणों से भी होती है।

बाणभट्ट का हर्षचरितः भारतीय इतिहास लेखन की परंपरा में सातवीं शताब्दी के आरंभ में बाणभट्ट द्वारा रचित हर्षचरित हर्षवर्धन के जीवन चरित्र का वर्णन करता है। जैसा कि डॉ० ए. के. वार्डर महोदय का मानना है कि बाणभट्ट भार्गव कुल के होने के कारण इतिहास में रचित वंश परंपरा उन्हें विरासत में मिली होगी। यहां इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि हर्षचरित पूरी तरह से इतिहास न होकर साहित्य की उस शाखा से संबंधित है जिसे काव्य कहा जाता है। वार्डर महोदय भारतीय इतिहास के क्षेत्र में काव्यात्मक शैली के साहित्य का प्रवेश प्रथम शताब्दी ई. से कुछ समय पहले से मानते है। भारत में महाकवि अश्वघोष का बुध्दचरित्र और कालिदास के महाकव्य इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। ऐतिहासिक काव्यों में प्रत्यक्ष और तथ्य संप्रेषण के स्थान पर अप्रत्यक्ष और भावना से ओत-प्रोत अभिकथन मिलते हैं, जिसका उद्देश्य काव्यो में सौंदर्य का प्रभाव उत्पन्न करना है। इस प्रकार से इस काल में मूल इतिहास लेखन की विधा में तथ्यों के साथ-साथ कला पक्ष को भी प्रमुखता दी जाने लगी।

बाणभट्ट अपने काव्य साहित्य में ऐतिहासिक और काल्पनिक कथाओं दोनो में ही अंत में नायक का एक विशेष स्त्री के साथ संयोग को प्राय चरम लक्ष्य की प्राप्ति का प्रतीक बताते हैं। हर्षचरित में भी नायक हर्षवर्धन का अपनी बहन राज्यश्री के साथ मिलना एक प्रतीकात्मकता की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। यह ग्रंथ जहाँ साहित्यिक दृष्टि से श्रेष्ठ है वहीं ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणिक भी। बाणभट्ट के इतिहास लेखन की एक विशेषता यह भी है कि वह समाजिक बुराइयों का पुरजोर विरोध करता है जिसमें हर्षवर्धन को अपनी बहन राज्यश्री के सती होने से बचाने का वर्णन है। इस प्रकार से हर्षचरित प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

जैसा कि ई. एच कार महोदय का मानना है कि अतीत के समाज को मनुष्य के लिए सुबोध बनाना इतिहास का दूसरा कर्तव्य है। जब तक इतिहासकार उन लोगो के मस्तिष्क के साथ सम्प्रेषण नहीं स्थापित कर लेता जिनके बारे में वह लिख रहा है, तब तक वह इतिहास नही लिखा जा सकता।

शिलालेखः प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में शिलालेख विश्वसनीय स्रोतों में एक है। समकालीन दस्तावेज होने के कारण शिलालेख बाद के प्रक्षेपों से मुक्त होते हैं। ये उसी रूप में दिखाई देते हैं जिसमें ये पहली बार उत्कीर्ण किए गए थे। इसमें बाद के समय में कुछ जोड़ना लगभग असंभव है। शिलालेखों के अध्ययन को पुरालेखशास्त्र कहा जाता है।

आरंभिक अभिलेख पत्थरों पर खुदे मिलते हैं किन्तु ईसा के प्रारंभिक वर्षों में इस कार्य में ताम्रपत्रों का प्रयोग शुरू हुआ। सबसे पुराने अभिलेख हडप्पा संस्कृति की मुहरों पर मिलते है जो लगभग २५०० ई०पू० के हैं तथा जिनका पढ़ना अभी तक संभव नहीं हुआ है। सबसे पुराने अभिलेख जो पढ़े जा चुके हैं वे ई०पू० तीसरी सदी के मौर्य शासक अशोक के शिलालेख हैं जिसे सबसे पहले १८३७ ई० में जेम्स प्रिंसेप ने पढ़ा।[२६] प्राचीन भारतीय इतिहास में अधोलिखित प्रकार के अभिलेख प्राप्त होते हैं-

कतिपय अभिलेख अधिकारियों और जनता के लिए जारी किये जाते थे जिनमें सामाजिक, धार्मिक तथा प्रशासनिक राज्यादेशों और निर्णयों की सूचनाएं रहती थी। अशोकीय शिलालेख इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं।

दूसरी कोटि में वे आनुष्ठानिक अभिलेख आते हैं जिन्हें बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव इत्यादि सम्प्रदायों के अनुयायियों ने भक्तिभाव से स्थापित स्तंभो, प्रस्तरफलकों, मंदिरों और प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण कराया है।

तीसरी कोटि में वे प्रशस्तियां आती हैं जिनमें राजाओं और विजेताओं के गुणों और

कीर्तियों का बखान हैं। इनमें उनकी पराजयों और कमजोरियों का कोई जिक्र नहीं होता है। गुप्त शाशक समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति इस कोटि का अत्युत्तम उदाहरण है।

बहुत सारे दान पत्र भी मिलते हैं जिनमें न केवल राजाओं और राजपुत्रों द्वारा बल्कि शिल्पियों और व्यापारियों द्वारा मुख्यतः धर्मार्थ धनदान, मवेशी भूमि आदि प्रकार के विशिष्ट दान अभिलिखित हैं।

ध्यातव्य है अशोक के बाद भी अभिलेखों की परम्परा कायम रही। अब हमें अनेक प्रशस्तियां प्राप्त होने लगती हैं, जिनमें दरबारी कवियों अथवा लेखकों द्वारा अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के शब्द मिलते हैं। खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख, महाक्षत्रप रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, सातवाहन नरेश पुलुमावी का नासिक गुहालेख, गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख इस कोटि के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उल्लेखनीय है कि शिलालेख राजनीतिक, सामाजिक, और आर्थिक इतिहास का एक अच्छा स्रोत है जो एक इतिहासकार के लिए इतिहास लेखन के लिए अतिशय मूल्यवान हैं क्योंकि वे हमें समकालीन घटनाओं और आम लोगों के बारे में बताते हैं, उनका प्रसार राजा के विस्तार क्षेत्र के बारे में बताता है। कई शिलालेखों में वंशावली विवरण और कभी-कभी उन राजाओं के नाम भी शामिल होते हैं, जो मुख्य वंशावली में छूट गए हैं। शिलालेख के कई अन्य उपयोग भी हैं। इनसे मूर्तियों की तिथियों के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। ये हमें विलुप्त होने वाले धार्मिक संप्रदायों के बारे में बताते हैं, इनसे ऐतिहासिक भूगोल, मूर्तिकला का इतिहास, कला और वस्तुकला, साहित्य और विभिन्न भाषाओं का इतिहास और यहां तक कि संगीत जैसी कला के बारे में भी जानकारी देते हैं। साथ ही ये साहित्यिक ग्रंथों की तुलना में अधिक विश्वसनीय हैं। इस प्रकार शिलालेख प्राचीन इतिहास लेखन को एक नया आयाम प्रदान करता है।

**मुद्राएं** : चीन काल मे राजाओं प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में सिक्के भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। उनके द्वारा ढलवाये गये सिक्कों से प्रचुर ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं, जो इतिहास लेखन में सहायक रहे है। भारत में सिक्के ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ही हमें नियमित रूप से प्राप्त होने लगते हैं।[३०] प्राचीनतम सिक्के को आहत सिक्के कहा जाता है, जिन्हें साहित्य में कार्षापण भी कहा गया है।[३१] ये अधिकांश चादी के टुकड़े हैं जिस पर विविध आकृतियां चिन्हित की गयी हैं। सर्वप्रथम सिक्को पर लेख लिखवाने कार्य हिन्द यवन शासको ने किया। सामान्यतः २०६ ई०पू० से लेकर ३०० ई० तक के भारतीय इतिहास का ज्ञान हमें मुख्य रूप से मुद्राओं की सहायता से ही होता है।[३२] इन मुद्राओं से हमें इतिहास लेखन से सम्बंधित अधोलिखित जानकारियां मिलती हैं-

१. इतिहास के कालक्रम को निर्धारित करने में सहायक।
२. इतिहास में हुए व्यापार-वाणिज्य की स्थिति।
३. राजवंश की आर्थिक स्थिति की जानकारी।
४. राजाओं की व्यक्तिगत रुचि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।
५. शासकों के धार्मिक रुचि के बारे में पता चलता है।
६. राजवंशो के सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है।
७. राजवंशों के राजनैतिक दशा के बारे में जानकारी मिलती है।

गुप्त काल में अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक सुवर्ण सिक्का चन्द्रगुप्त कुमार देवी प्रकार का है जिसके मुख्य भाग पर चन्द्रगुप्त एवं कुमार देवी की आकृति तथा पृष्ठ भाग पर लिच्छवयः उत्कीर्ण मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त ने लिच्छवि राजकन्या कुमारदेवी के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। समुद्रगुप्त को एक सिक्के में वीणा बजाते हुए दिखाया गया है जिससे यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त संगीत का प्रेमी था तथा वह बीणा बजाने में निपुण था। समुद्रगुप्त के अश्वमेध प्रकार के सिक्कों से उसके द्वारा कराये गये अश्वमेध यज्ञ की सूचना प्राप्त होती है। वहीं चन्द्रगुप्त द्वितीय के व्याघ्र हनन प्रकार के सिक्कों से उसकी पश्चिम भारत के विजय की सूचना मिलती है।[३३] मध्य प्रदेश के एरण तथा भिलसा से रामगुप्त के कुछ सिक्के मिलते हैं जिनसे हम उसकी ऐतिहासिकता का पुर्ननिर्माण करने में सहायता प्राप्त करते हैं। सातवाहन शासक शातकर्णि की एक मुद्रा पर जलपोत का चित्र उत्कीर्ण है जिससे ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उसने समुद्र विजय की थी। इण्डो-सीथियन शासकों के इतिहास के प्रमुख स्रोत सिक्के ही हैं। शक-पहलव युग की मुद्राओं से उनकी शासन पद्धति का ज्ञान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में एक महत्त्वपूर्ण स्रोत तो है ही ,साथ ही अत्यधिक विश्वसनीय भी।

स्मारकः शिलालेख और मुद्राशास्त्र के स्रोतों के अलावा कई अन्य पुरातन अवशेष हैं जो हमें हमारे अतीत के बारे में बताते हैं। गुप्तकाल से लेकर वर्तमान काल तक देश भर में आने को मंदिर और मूर्तियां मिलती हैं, जो स्थापत्य कला के इतिहास और भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों को दर्शाते है। अजंता और एलोरा जैसी बड़ी गुफाओं की खुदाई पश्चिमी भारत की पहाड़ियों में की गई है, इनसे विभिन्न युगों की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का बोध होता है। मन्दिर, विहारों, तथा स्तूपों से जनता की आध्यात्मिकता तथा धर्मनिष्ठा का पता चलता है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. एस.के. पाण्डेय, आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ-६६
१. अथर्ववेद, १५.१७
२. विष्णुपुराण, ५.१.३७
३. निरुक्त, ४६
४. छान्दोग्य उपनिषद, ७.१.२
५. यास्क, निरक्त
६. वी. एस. पाठक, एनशियन्टहिस्टोरियन्सअहफइंडिया, पृष्ठ १०
७. यास्क, निरुक्त
८. वी. एस. पाठक, वही , पृष्ठ ३
९. गिरजा शंकरप्रसादमिश्र, प्राचीनभारतीय इतिहासदर्शनतथाइतिहासलेखनस्वरूप एवंसिद्धांत,१९९९, पृष्ठ ८१
१०. ए. के. वार्डर, भारतीय इतिहासलेखन की भूमिका, पृष्ठ २०
११. अमरकोश
१२. गिरजा शंकरमिश्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ ९१
१३. प्रोफेसर एच. एन. दुबे, पौराणिकइतिहासलेखन एक समीक्षा, पृष्ठ १३४
१४. इंडियनहिस्टहरिकलक्वाटर्रली, १९३५, पृष्ठ ५६८
१५. अर्थशास्त्र, १.५
१६. कल्हणकृत राजतरंगिणी, १.७
१७. वही, पृष्ठ ९५
१८. वही, १.१०
१९. वही, १.१२
२०. वही, १.१३
२१. वही, १.२१
२२. प्रोफेसरगोविंद चंद पांडेय, इतिहासस्वरूप एवमसिद्धांत, जयपुर, १९७३, पृष्ठ ४८
२३. एस. के. पांडेय, प्राचीनभारत, पृष्ठ २२५
२४. वही, पृष्ठ २२०-२२१
२५. राहुलसांस्कृत्यायन, राहुल यात्रावली, प्रयागराज, १९४९, पृष्ठ २९५
२६. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीनभारत का इतिहासतथासंस्कृति, पृष्ठ ९
२७. प्रो. जी. सी. पांडेय, पूर्वोक्त, पृष्ठ ९२
२८. राधाकृष्णचौधरी, प्राचीनभारत का राजनैतिक एवंसांस्कृतिकइतिहास, १९९३, पृष्ठ २७१
२९. के. सी. श्रीवास्तव, पूर्वोक्त, पृष्ठ २४०

३०. वही, पृष्ठ १३
३१. वही, पृष्ठ १३
३२. वही, पृष्ठ १३
३३. वही, पृष्ठ १३

-एसोसिएट प्रोफेसर,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, अनूपपुर (म.प्र.)
शिशिरकान्त त्रिपाठी
शोधार्थी, इतिहास विभाग,
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय बिलासपुर (छ.ग.)

⊙

# निर्मला पुतुल के काव्य में स्त्री स्वर

–डॉ० प्रियंका सिंह

वर्तमान समय में स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी हिस्सेदारी दिख रही है। पुरुषों से कहीं भी कमतर नहीं है। सरकार द्वारा उसे निरंतर प्रोत्साहित किया जा रहा है। उसकी शिक्षा, उसके सामाजिक-आर्थिक अधिकार, उसके स्वास्थ्य के प्रति उसे निरंतर सचेत किया जा रहा है। लेकिन सवाल यह उठता है कि क्या सदियों से शोषित, अपमानित, उपेक्षित स्त्री का उत्थान इतना सहज और सरल है? 'सेकेण्ड सेक्स' के रूप में दोएम दर्जा प्राप्त स्त्री क्या कुछ दस्तावेजी प्रक्रियाओं से गुजर कर चमत्कारिक उत्थान को देख पायेगी? क्या समाज में उसे बराबरी का स्थान मिल जाएगा? वास्तव में यह सवाल जितने सरल है जवाब उताना ही जटिल और स्त्रियों में उत्थान की प्रक्रिया उतनी ही क्लिष्ट। स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन हो तो रहा है लेकिन अभी लंबी दूरी तय करना बाकी है। शहरी स्त्रियों में और संपन वर्ग की स्त्रियों में तो सुधार दिख रहे हैं लेकिन अगर हम आदिवासी समुदाय की बात करें तो वहां आज भी उनकी स्थिति दयनीय ही बनी हुई हैं। एक तो स्त्री, उसपर भी आदिवासी, उनके दुःख की सीमा का आकलन कर पाना वास्तव में अत्यंत कठिन है।

निर्मला पतुल आदिवासी साहित्य की सशक्त हस्ताक्षर है। समकालीन साहित्य में आदिवासी स्त्रियों की समस्याओं को लेकर कई लेखक साहित्याकाश में अवतरित हुए लेकिन हिन्दी साहित्य में पहला महत्वपूर्ण प्रयास निर्मला पुतुल का दिखाई देता है। सन् २००४ में प्रकाशित उसके दो कविता संग्रह 'अपने घर की तलाश में' (रमणिका फाउण्डेशन) और 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' (भारतीय ज्ञानपीठ) के माध्यम से हिन्दी अनुभव संसार में आदिवासित को पर्दापण कराने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। आदिवासी माटी की सुगंध, आदिवासी स्त्रियों की समस्याओं, उनके परंपरागत चुनौतियों, उनके दैहिक-मानसिक शोषण को निर्मला पुतुल ने अपने काव्य के माध्यम से बहुत ही सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। एक आदिवासी स्त्री द्वारा उसके 'स्व' की तलाश पुरुष व्यवस्था और पितृसत्तात्मकता के प्रति विद्रोह, आदिवासी समाज और आदिवासी स्त्री की वेदना, आदिवासी समाज के गुण-दोष, तथाकथित सभ्य समाज पर व्यंग्य, मुक्ति की कामना जैसे वृहत विमर्श बिन्दुओं में उनकी

कविताओं का पाठ हुआ। निर्मला जी का संघर्ष दोगुणा है, एक तो स्त्री दूसरी आदिवासी।

स्त्रियां पुरुषों के लिए केवल एक देह है। उसकी वेदना, उसकी व्यथा, उसके दुःख, उसके संघर्ष, उसकी चाहत, उसके प्रेम की किसी को आवश्यकता नहीं। पुरुष आकर्षण केवल उसकी देह तक सीमित है। नारी केवल भोग्या के रूप में मान्य है। निर्मला पुतुल इस देहवादी दृष्टि के पोषक पुरुषों के प्रति अपना आक्रोश प्रकट करते हुए लिखती हैं-

**'तन के भूगोल से परे**
**एक स्त्री के**
**मन की गाँठे खोल कर**
**कभी पढ़ा है तुमने**
**उसके भीतर खोलता इतिहास**
**अगर नहीं**
**तो फिर जानते क्या हो तुम**
**रसोई और बिस्तर के गठित से परे**
**एक स्त्री के बारे में ..... ?'"**

वास्तव में रसोई और बिस्तर के गठित से परे पुरुष स्त्री को कुछ नहीं मानता। पुरुषों की यही 'देहवादी दृष्टि' उसे पुरुषों की भोग्या बनाकर छोड़ देती है।

**''वेश्या, वेश्यागिरी करती है**
**पुरुष की मानसिकता की वजह से**
**पुरुष बनाता है स्त्री को वेश्या**
**वरना स्त्री वेश्या नहीं होती**
**वेश्या होने का मतलब स्त्री होना नहीं है**
**और स्त्री होने का मतलब वेश्या होना नहीं है।"[२]**

इस भोगवादी मानसिकता की शिकार स्त्री की पीड़ा अंतहीन है। असहनीय है। स्त्री देह सिर्फ भोगने के लिए नहीं है।

आदिवासी स्त्रियां छुई-मुइं नहीं होती। कोमल कली नहीं होती बल्कि हड्डी तोड़ शारीरिक श्रम करती नजर आती है।

**'चिलचिलाती धूप में**
**ईंट पाथते, पत्थर तोड़ते, मिट्टी काटते हुए भी**
**किसी बाज के चंगुल में चिड़ियों की तरह**

**फड़फड़ाते हुए एक बार देखा था उसे।'[३]**

जहां एक तरफ आदिवासी स्त्रियों को जीवन की मूलभूत आवश्कता के लिए जद्दोजहद् करते हुए देखा जाता है वहीं दूसरी तरफ उस संघर्षरत स्त्री पर लोगों की नजर चील गिद्ध की तरह पड़ती है। जहां एक तरफ अपना परिवार पोषण करने के लिए कठिन संघर्ष करती हुई दिखती है वहीं दूसरी तरफ उसकी मेहनत, उसकी सामाजिक स्थिति, आर्थिक पीड़ा से इतर उसे केवल भोग्या के रूप में आंका जाता है।

स्त्री जीवन की विडंबना ही यही है कि वह सबकुछ समझती है, सहती है और दमघोंटू जीवन यापन करने को विवश है।

**'सबकी सुनती है**
**क्षण-क्षण जलती है**
**होठों को सीती है**
**बिन तेल की बाती है**
**अधलिखी पाती है**
**मर्दों की थाती है।'[४]**

'मर्दों की थाती' शब्द उसके जीवन की विडंबना पर कुठाराघात करता है। स्त्री चाहे सामान्य वर्ग से हो, उच्च वर्ग से हो या आदिवासी समुदाय से वह मर्दों की जूठन ही रह जाती है।

इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री अपने अस्तित्व को तलाशती हुई निरंतर भटक रही है। सदियों से भटक रही है। उसे अपने वजूद की तलाश है, अपने होने के अर्थ को समझना चाहती है-

**'धरती के इस छोर से उस छोर तक**
**मुट्ठी भर सवाल लिये मैं,**
**दौड़ती-हांफती-भागती**
**तलाश रही हूँ सदियों से निरूत्तर**
**अपनी जमीन, अपना घर**
**अपने होने का अर्थ।'[५]**

स्त्री जीवन की कैसी विडंबना है कि उसे परिवार, समाज में हमेशा दोएम दर्जा दिया गया लेकिन जब पारिवारिक जिम्मेदारी, सामाजिक प्रतिष्ठा की बात आती है तो स्त्री को धुरी बना दिया जाता है। आदिवासी स्त्रियाँ तो जीवन की मूलभूत आवश्कताओं की पूर्त्ति हेतु सदियों से

संघर्षरत है लेकिन उसके श्रम को कभी उचित स्थान प्राप्त नहीं हो पाया है। वस्तुतः इसी कारण 'धान रोपती पहाड़ी स्त्री रोप रही है अपना पहाड़ सा दुःख।"[६]

इनकी स्थिति और दयनीय तब हो जाती है जब ये परिवार की आर्थिक तंगी की मार झेल नहीं पाती। परिवार के हाथों की किसी शोषणकर्त्ता की शिकार हो जाती है। किसी मिल मालिक ठेकेदार के हाथों बिक जाती है और सौदा करने वाले उनके अपने ही होते हैं। अपने संग माता-पिता ही होते हैं। वे आदिवासी समुदाय की विसंगतियों का उद्‌घाटन करते हुए लिखते हैं-

**'मूर्ख बापू ने तो कर दिया था**
**मुझे उसके हवाले"[७]**

तो कहीं माँ अपने बेटी का सौदा कर अपने स्वार्थ-सिद्धि करती नजर आती है --

**'यह काली अंधेरी सबसे डरावनी रात**
**घुस आई तुम कमरे में**
**गोरे-चिट्‌ठे चमड़ी वाले**
**उस अधेड़ पुरुष के साथ**
**और तुमने मेरी तरफ इशारा करते हुए**
**क्या तो कहा था**
**मामला साफ था। सौदा किया थ तुमने मेरा'[८]**

निर्मला पुतुल जहाँ एक तरफ आदिवासी जीवन की विडंबनाओं को चित्रित करती है वहीं दूसरी तरफ आदिवासी स्त्रियों के प्रति तथाकथित सभ्य समाज के शोषणकारी नजरिये को "बचाओ अपनी बहनो को/..... उन खतरनाक शहरी - जानवरों को पहचनाओं/ चुड़का सोरेन पहचानों?"[९] उद्‌घाटित भी करती हैं।

शहरी समाज, पूंजीपति न सिर्फ इनके संसाधनों का दोहन कर रहे हैं, इन्हें जल, जंगल, जमीन से वंचित कर रहे हैं बल्कि इनकी स्त्रियों का दैहिक-मानसिक शोषण भी कर रहे हैं। निर्मला पुतुल इस असूहय स्थिति को बर्दास्त नहीं कर पाती। इस भयावह शोषण से त्रस्त हो सवाल कर उठती है-

**'औरतें कब तक शिकार होती रहेंगी?**
**और दुःशासन कब तक हारता रहेगा, द्रोपदियों की चीर**
**आखिर कब तक? और कब तक?"[१०]**

निर्मला पुतुल उग्र स्वर में कहती हैं कि अपनी कमजोरियों पर विजय पाकर आंसुओं को

खून में बदलकर हमें अन्याय के विरोध के लिए तैयार होना पड़ेगा, हमें अपनी स्थिति को स्वयं बदलने के लिए संघर्ष करना होगा। अपने अधिकारों का युद्ध हमें स्वयं लड़ना होगा तथा अपनी अंर्तशक्ति को पहचान कर, असंभव से प्रतीत होते सपनों को सच करना होगा। वे जानती हैं कि जहां शब्दों को नगाड़े की तरह बजाना है वहां कोमलता की भाषा को कोई अर्थ नहीं है। इसलिए अपनी स्थिति को बदलने हेतु वे ललकारती हुई आह्वान करती हैं--

'तुम्हें आना होगा/रणचंडी बन, दुर्गा बन, फूलों भानों बन/हाथ में भाला, फरसा कुल्हाड़ी लिए/आना ही होगा, इस धरती पर।'[११]

'निर्मला पुतुल आगे कहती हैं 'हम खून से लिखेंगे अपना इतिहास/आंसू से नहीं।'[१२]

जिस इतिहास में स्त्रियों को उचित स्थान नहीं मिला, जहां स्त्रियों के त्याग, दया, ममता, प्रेम को उसकी कमजोरी मान लिया गया, निर्मला पुतुल उस इतिहास को अपने शौर्य, अपने अधिकारों के प्रति सजगता दिखाकर बदलने की बात कर रही हैं।

वास्तव में निर्मला पुतुल के काव्य में आदिवासी जीवन की विसंगतियों, आदिवासी स्त्री के संघर्ष, उसकी वेदना, उसकी व्यथा, उसकी कुण्ठा, उसके साथ हो रहे राजनीतिक छल, सामाजिक, आर्थिक-शोषण को बड़ी सूक्ष्मता और गहराई से चित्रित की गई है। सुरेश सलिल निर्मला पुतुल की कविताओं के बारे में लिखते हैं - 'निर्मला पुतुल की कविता में एक कडियल स्त्रीवादी स्वर सुनाई दे सकता है। बेशक ये एक स्त्री की कविताएँ हैं - अपने स्त्रीत्व के प्रति सजग स्त्री की कविताएं, लेकिन इसे कवि के समूचे काव्य लोक का एक ग्वाक्ष भर मानना होगा। यहां स्त्री है, संताली स्त्री है, संताली समाज है और पूर्वांचल का सकल आदिवासी समाज भी है।'[१३] अतः हम देखते हैं कि निर्मला पुतुल के काव्य में स्त्रीवादी स्वर अपनी संपूर्णता में अभिव्यक्त हुई है। जहां शोषण की विभिन्न परतों को खोलती हुई दिखती हैं वहीं शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का बाना भी अख्तियार कर लेती हैं। वस्तुतः निर्मला पुतुल का काव्य आदिवासी स्त्रियों की जीवनगाथा को अपनी संपूर्णता में अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ० ३१
२. निर्मला पुतुल, वेश्या, बेघर सपने पृ० २४
३. निर्माला पुतुल, चुड़का सोरेन, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ० १६
४. निर्मला पुतुल, औरत, बेघर सपने, पृ० १०४
५. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ० ३१
६. निर्मला पुतुल, पहाड़ी स्त्री, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ० ७८

७. निर्मला पुतुल, आस-पड़ोस के छोटे भाईयों से नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ० ७५
८. निर्मला पुतुल, सबसे डरावनी रात, बेघर सपने, पृ० १५
९. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ० २१-२२
१०. निर्मला पुतुल, औरत, बेघर सपने, पृ० ६८
११. निर्मला पुतुल, दामिनी, बेघर सपने शब्द, पृ० ८८
१२. निर्मला पुतुल, बेघर सपने शब्द, पृ० ७४
१३. निर्मला पुतुल, अपने घर की तलाश में शब्द, पृ० १

**सहायक प्राध्यापक**
**हिन्दी विभाग, जमशेदपुर को-ऑपरेटिव कॉलेज**

# स्वतन्त्रता का अमृतकाल और हिन्दी कविता

–डॉ० त्रिभुवन गिरि

किसी भी राष्ट्र के उत्थान एवं पतन में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। साहित्य के उजाले में ही समाज की चेतना विकसित होती है। जिस प्रकार बिना सूर्य के संपूर्ण सृष्टि अंधकारमय होती है उसी तरह बिना साहित्य के कोई भी देश प्रकाशित नहीं होता है। भारतीय साहित्य के संबंध में हमेशा से कहा गया है कि भारतीय साहित्य में लोकमंगल का विधान है। भारतीय साहित्य में हमेशा से ही समाज में व्याप्त अमंगल का नाश किया है और जीवन को एक नवीन दिशा प्रदान की है। हम साहित्य के शुरूआती दौर की बात करें तो आरंभ काल खण्ड में प्रत्येक साहित्यकार पत्रकार अवश्य होते थे। साहित्य और पत्रकारिता का अन्योन्याश्रित संबंध आरंभिक समय में देखने को मिलता है। भारतेंदु युग के अधिकांश लेखक पत्रकार थे यह भी बात गौर करने वाली है कि प्रारम्भिक समय में लेखकों का उद्देश्य पत्रकारिता के माध्यम से समाज में स्वतंत्रता के प्रति जाग्रत करना था परंतु तत्कालीन पत्रकारिता में सेंसरशिप और अंग्रेजों के कड़े कानूनों का सामना कर रही थी, इसीलिए पत्रों में भी लेखक सामान्य पत्रकारिता की भाषा का प्रयोग न करके साहित्यिक भाषा का प्रयोग करके ही जनमानस को जाग्रत करते थे। पत्रकारिता को तत्कालीन समय में अंग्रेजों के विरूद्ध एक महत्वपूर्ण हथियार माना जाता है। अकबर इलाहाबादी लिखते हैं-

**"खींचो न कमानों को न तलवार निकालो।**
**जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।।"**[1]

जब सब कुछ निरस्त हो जाता है तो अखबार ही एक ऐसी ताकत है जिसके माध्यम से अपने विचारों को शासन, प्रशासन से लेकर जनता तक पहुँचाया जा सकता है। साहित्यिक पत्रकारिता ने इसी तरह विरोध के स्वर मुखर किए और स्वतंत्रता संग्राम में अपना योगदान दिया।

स्वतंत्रता आंदोलन में हिंदी लेखकों के साहित्य में साम्राज्यवाद का विरोध एवं सामन्ती रूढ़ियों की प्रखर आलोचना मिलती है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने उनमें राजभक्ति को लक्षित कर उनकी निन्दा भी की है। मराठी के तत्कालीन लेखक सखाराम गणेश देउस्कर ने अपनी पुस्तक 'देश की बात' में महारानी विक्टोरिया को पूजनीया और उच्चकुल के अंग्रेजों को उदार

कहने के बाद भी उनके शोषण और अत्याचार की आलोचना की थी। भारतेन्दु एवं उनके समकालीनों में भी कई जगह अंग्रेजी राज की प्रशंसा मिलती है। यही १९वीं सदी के लेखकों की एक प्रवृत्ति थी जो संभवतः महारानी विक्टोरिया के १८५८ में घोषित पत्र द्वारा भारत का शासन कम्पनी के हाथ से इंग्लैंड सरकार के पक्ष में हस्तांतरण से प्रभावित थी। भारतेन्दु लेखकों का यह अन्तर्विरोध उन्हें अंग्रेजी राज के सुसंगत आलोचक के रूप में देखे जाने के अधिकार से वंचित नहीं कर सकता।

'कविवचन सुधा' में समय-समय पर लिखी टिप्पणियों में उन्होंने अंग्रेजी राज की आर्थिक शोषणकारी भूमिका को उद्घाटित किया था। भारतेन्दु ने स्वदेशी आन्दोलन के बहुत पहले ही तटीय समाज के सदस्यों के लिए विलायती कपड़ों का निषिद्ध कर दिया था। भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों- राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट। प्रताप नारायण मिश्र ने हास्य तथा व्यंग्य के लिए जो आलम्बन चुने उनसे अंग्रेजी राज, इसके शासन तंत्र के अधिकारी, ख़ुशामदी रईस आदि प्रमुख थे। भारतेन्दु ने हिंदी गद्य को न केवल जन्म दिया था, अपितु उसे एक नयी भूमिका के पालन हेतु पैनापन किया था। उसके माध्यम से उन्होंने साम्राज्य विरोधी चेतना का प्रसार किया। ऐसी तीखी साम्राज्य विरोधी चेतना जो उनसे पहले किसी लेखक में दिखाई नहीं देती।"[२] हिंदी प्रदीप के सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट एक उदार विचारों के लेखक थे परन्तु साम्राज्यवादी विचारधारा के प्रबल विरोधी थे। स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की अपील करते हुए उन्होंने लिखा था- "वही सुशिक्षा और सभ्यता का दम भरने वाले हम हैं कि देशी चीजों के बर्ताव के लिए देश की बनी वस्तुओं को काम में न लाने से दरिद्रता देश में डेरा किए हुए है पर विलायती चीजें के चटकीलेपन में ऐसे फंसे हैं कि हजार बार के लेक्चर पर भी फल न हुआ।"[३]

भारतेन्दु युगीन साम्राज्यवाद विरोध की चेतना को २०वीं सदी के आरम्भ में आगे बढ़ने का कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संभाला। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने ऐ वृत का निर्माण किया, जिन्होंने साहित्य रचना के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को सशक्त रूप दिया। इस युग के रचनाकारों ने राष्ट्र की रक्षा तथा स्वाधीनता के लिए उर्दू के प्रचलित शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया। इस युग के साहित्य ने परवर्ती विकास के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

स्वाधीनता की चेतना हर विधा में प्रबल थी। किंतु हिंदी कविता पर इसका विशेष प्रभाव देख सकते हैं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीयता जाग्रत करने में इन कवियों की भावना काम कर रही थी। जनमानस में एक जोश पैदा करने की शक्ति उन कवियों में रही।

प्रथम स्वाधीनता संग्राम के समय से हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भी शुरू होता। भारतेन्दु ने तमाम अंग्रेजी तानाशाही, साम्राज्यवादी बंधनों का खुलकर विरोध किया और उन्होंने आशंका व्यक्त की कि हमारे देश की संपत्ति की लूट चल रही है। भारतीयों को कहते रहे कि तुम्हें भारत की आसन्न दुर्दशा पर कुछ करना ही होगा। भारत मां की दशा पर रोते बिलखते रहना पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी शक्ति को पहचानना है। हमारी परंपरा संस्कृति एवं विरासत को याद रखना है। सोई हुई आत्मशक्ति को जगाना हर भारतीय का कर्तव्य है। भारतेंदु की पंक्तियों की उर्जा का अंदाजा लगाया जा सकता है-

**जहँ भए शाक्य हरिचंद नहुष ययाती**
**जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती**
**जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती**
**तहँ रही मूढत्रता कलह अविधा राती**
**अब-जहँ देखहु तहँ दुखहि दुख दिखाई**
**हाँ हाँ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।**[४]

स्वाधीनता आंदोलन 'स्व' की चेतना से प्रेरित, राष्ट्रीय चेतना से उद्वेलित समग्रता का आंदोलन था। वह किसानों, व्यापारियों, मजदूरों, कारीगरों, श्रमिकों वैज्ञानिकों एवं बुद्धिजीवियों के समग्र रूप का आंदोलन था, जिसका एक मात्र लक्ष्य देश को आजाद कराना था, साहित्य और साहित्यकार भी कैसे उससे अछूता रह सकता था। साहित्य सृजन वैसे तो समय और समाज सापेक्ष होने वाली सतत प्रक्रिया है लेकिन कुछ घटनाएँ सज्जन की जमीन को एक नई ऊँचाई प्रदान करती है। ऐसे ही इतिहास की एक घटना १८५७ ई० में घटी जिसने भारतीय समाज को न तरह से सोचने, समझने, रचने और जीने के लिए बाध्य किया। नई-नई तरह की आवश्यकताओं का जन्म हुआ। ब्रिटिश शासन की कुनीतियाँ और शासन पद्धति ने भारतीय जन मानस को आक्रोशित किया। अपने स्व की रक्षा हेतु हम एक राष्ट्र की रक्षा के रूप में संगठित होने की दिशा में हम आगे बढ़े और उससे संबंधित आवश्यक सभी चीजों को अपनाकर अपनी ठोस जमीन तैयार की। हमने अपनी राजनैतिक धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना को जागरूक करने के लिए कलम का सहारा लिया और लेखन के माध्यम से जनता को एकजुट और जागरूक करके राष्ट्रहित के लिए खड़ा किया। इस समय में भारतीय समाज तथा संस्कृति के क्षेत्र में जिस नई चेतना का उदय हुआ उसकी व्यापकता केवल साहित्य और संस्कृति तक ही सीमित नहीं थी बल्कि तमाम और हिस्सों को प्रभावित कर रही थी।

स्वाधीनता आंदोलन के लिए पहला संगठित संघर्ष १८५७ की क्रांति से शुरू होता है।

इसको लेकर विद्वानों में विविध मत प्रचलित है। इसके उभरने के अनेक कारण गिनाए जाते हैं लेकिन साहित्य और हिंदी भाषा-भाषी समाज की दृष्टि से देखे तो रामविलास शर्मा की ''जातीय संग्राम'' वाली बात सटीक मालूम पड़ती है उन्होंने लिखा है- ''यह संग्राम हिंदी भाषी प्रदेश में चलाया गया। यह प्रदेश ही मुख्य रण क्षेत्र था। अन्य प्रदेश में छूट-पुट घटनाएँ हुई। फौजी सिपाहियों और गाँव के किसानों ने मिलकर जहाँ संगठित रूप से यह संग्राम चलाया वह हिंदी प्रदेश था। अंग्रेजों ने जिसे देशी फौज की सहायता से अपना राज्य फिर कायम किया उसमें अधिकतर हिंदी प्रदेशों के सिपाही थे। सन् १९५७ का स्वाधीनता संग्राम हमारा जातीय संग्राम था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जितने लोकगीत विभिन्न जनपदों में हमारे यहाँ रचे गए उतने अन्य प्रदेशों में कुल मिलाकर भी नहीं रचे गए।''[५]

डॉ० शिव कुमार मिश्र के शब्दों में 'ब्रिटिश राज की लूट उसके अमानवीय अर्थतंत्र उसके कुशासन और उसके परिणामों में अकाल, महामारी आदि का जितना यथार्थ हृदय द्रावक और रोमांचक वर्णन अपने समय के संदर्भों में भारतेन्दु ने किया है उतना अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ता।''[६]

साहित्यिक विधा में चाहे नाटक हो, कविताएं हों या फिर पत्रकारिता करने का तरीका हो। सभी में उन्होंने अपने परिस्थिति और जरूरतों का ध्यान रखा और उसी के अनुसार अपने रचना धर्म को निभाया। भारतेन्दु ने अपनी प्रखर भाषा में भारतीय जनता को सचेत किया-

**अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,**
**पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी।**
**ताहू पै महंगी काल रोज विसतारी,**
**दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री।**
**सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई,**
**हा-हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।**

साहित्य में इस तरह की जागरूकता और भाषा में तेवर की जरूरत लगभग इसी समय में पैदा हुई और भारतेन्दु मण्डल (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र एवं बद्री नारायण चौधरी प्रेमघन) के रचनाकारों ने इसके माध्यम से राष्ट्रीयता की चेतना को उत्कर्ष तक पहुंचाया। इस समय के सभी रचनाकार अपनी भाषा के प्रति बहुत सजग थे। भारतेन्दु ने तो 'निज भाषा उन्नति अहै, सब भाषा को मूल' कहकर मानों उन्होंने राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का मूल मंत्र ही भारतवासियों को बता दिया था। डॉ० राम विलाश शर्मा लिखते हें कि ''यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हिन्दू प्रदेश में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता

और देश के लिए बलिदान का पात्र पढ़ाने वाले भारतेन्दु ही थे।''[७]

भारतेन्दु मण्डल के रचनाकार ने देश की वर्तमान स्थिति पर क्षोभ प्रकट करते हुए अंग्रेजी शासन के खिलाफ संघर्ष करने की प्रेरणा देने वालों में अग्रणी थे। प्रताप नारायण मिश्र की कविता में क्षोभ का स्वर आर्थिक है-

**सर्वसु लिए जात अंग्रेज, हम केवल लेक्चर को तेज।**
**श्रम बिन बाते का करती हैं, कहुं टटकन गाजै टरती हैं।**[८]

जिस राष्ट्रीय भाषा के चलन का भारतेन्दु ने आह्वान किया था उसके फलस्वरूप बहुत से राष्ट्रवादी कवियों की फौज भारतेन्दु ने तैयार की थी। '''भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय में सामयिक कवियों को जो मार्ग प्रशस्त करना था उसमें व्याकरण के जटिल नियमों को स्थान नहीं दिया जा सकता था। हिंदी के उस क्रांति युग में व्याकरण की व्यवस्था संभव भी नहीं थी। उस समय तो कविता को रीति की संकीर्णता से निकालना था उसे खुली हवा में लाकर स्वस्थ करना था।''[९] भारतेन्दु के अनुसार अपनी फूट जहां सर्वनाश की सूचक है वहाँ एकता का होना बहुत आवश्यक है। एक उदाहरण देखिए-

**''इक भाषा एक जीव इक मति सब घर के लोग**
**तबै बजत है सबन सौ मिटत मूढत्रता सोग**
**भारत में सब भिनन अति ताही सों उत्पात**
**विविध देश मतहूं विविध भाषा विविध लखात।''**[१०]

आजादी से ठीक पहले हिंदी साहित्य में राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा दिखाई पड़ती है जो इसी स्वाधीन चेतना की उत्कर्ष स्थिति मानी जा सकती है जिसके प्रमुख रचनाकारों में माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहन लाल द्विवेदी रामेश्वर शुक्ल अंचल' रामधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' इत्यादि हैं। इन सभी ने राष्ट्र के प्रति सर्वस्व समर्पण की भावना को लेकर अपनी कविताओं को स्वर दिया एवं राष्ट्रीय जागरण के गीत गाए।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अपने युग के कवियों का आह्वान करते हुए लिखा है कि-

**कवि कुछ ऐसी तान सुनाओं जिससे उथल पुथल मच जाये।**
**एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।।**

इसी काल के एक अन्य अचर्चित किन्तु महत्वपूर्ण कवि इन्द्र बहादुर खरे ने हिम्मत बाँध कर जिन्दगी जीने एवं अन्यायी शासन से मुकाबल करने तथा दिन बदलने की सीख देते हुए लिखा है कि-

**''शीश झुकाना कायरता है।**

**बार-बार तू क्या मरता है?**
**बदलेगा अन्यायी शासन, तुझको भी अधिकार मिलेंगे।**
**इक दिन तेरे दिन बदलेंगे।**
**हिम्मत बाँध जिये जा बन्दे, इक दिन तेरे बदलेंगे।।**[११]

द्विवेदी युग १९००-१९२० का वही समय है जब ब्रिटिश सत्ता १९०५ में बंगाल का विभाजन कर तथा १९०९ के एक्ट के माध्यम से हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अलग करना चाहती थी। पृथक निर्वाचन पद्धति जिसका मतलब था कि हिन्दू जनप्रतिनिधियों को केवल हिन्दू और मुस्लिम जनप्रतिनिधियों को केवल मुस्लिम चुनेंगे। यह ऐसा सांप्रदायिक बीज था जिसका फल १९४७ के भारत-पाक विभाजन के रूप में सामने आया। द्विवेदी युगीन साहित्य इस पृष्ठभूमि में लिखा जा रहा था। राष्ट्रीय एकता की तरफ आह्वान करते हुए गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने लिखा-

**'''भरा नहीं जो भावों से**
**बहती जिसमें रसधार नहीं**
**हृदय नहीं वह पत्थर है**
**जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।''**[१२]

स्वतंत्रता आंदोलन के नवयुवक शहीद भगत सिंह ने कहा है कि ''क्रांति की धार विचारों की धार पर तीव्र होती है।'' तात्पर्य है कि वैचारिकता ही वह चिनगारी है जो खून में मिलकर रग-रग में दौडती है। जो उत्साह उमंग के साथ देश के लिए अपने सर्वस्व को अर्पित करने की शक्ति देती है। इस वैचारिक धार को मजबूत करने का कार्य हिंदी कविताएँ कर रही थी। माखनलाल चतुर्वेदी 'पुष्प की अभिलाषा' कविता में लिखते हैं-

**''चाह नहीं मैं सुरबाला के**
**गहनों में गूथा जाऊँ**
**मुझे तोड़ लेना वनमाली**
**उस पथ पर तुम देना फेंक**
**मातृभूमि पर शीश चढ़ाने**
**जिस पथ जावें वीर अनेक।।**[१३]

फूलों की चाह के माध्यम से इंसानों में चाह भरने की कामना से रचित कविता करोड़ों दिल-दिमाग में 'राष्ट्रीयता' की भावना जाग्रत उत्तेजित करके देश के लिए कुछ करने की अलख जगा जाती है।

श्यामलाल गुप्त द्वारा रचित झंडा गीत ''विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झंडा ऊँचा रहे हमारा'' यह गीत लिखने से लेकर आज तथा आने वाले न जाने कितने वर्षों तक या कहें कि जब तक भारत की आकांक्षा एक झंडे के नीचे राष्ट्र को एकजुट करने की चेतना विद्यमान रहेगी तब तक इसको गुनगुनाया जाता रहेगा। यह हिंदी कविता का सार्वजनिक महत्व है जो झंडे के माध्यम से दिलों से दिलों को भावों से भावों को, राज्यों से राज्यों को, केन्द्र से राज्यों को, धर्मों को धर्मों से तथा इन सबमें एक राष्ट्र सशक्त राष्ट्र 'समृद्ध राष्ट्र के सपनों को लिए हुए देशवाहिसयों को अहर्निश एकजुट करता रहे।

वास्तव में हमारा संपूर्ण साहित्य मुक्ति गाथा से भरा पड़ा है। हमारे इतिहास अंधेरे से रोशनी की ओर एक प्रमाण है। पराधीनता से स्वाधीनता का स्वर्णिम इतिहास हमारे साथ है। स्वतंत्रता के आयाम कई हो सकते हैं। पूरी दुनिया में मुक्ति संघर्ष जारी है। तमाम अस्मितावादी विमर्श के पीछे अस्तित्व बोध और स्वतंत्रता बोध की चिंगारियां चमक रही हैं। सीधे स्वतंत्रता मानव अधिकार से भी जुड़ जाती है। स्वतंत्रता को अमृत और जीवन मानने वाले मलयालम कवि कुमारनाशान के लिए परतंत्रता मृत्यु से भी भयानक है। जीवन और साहित्य के अंतर्संबंध की तरह साहित्य और स्वतंत्रता का भी अंतर्सम्बन्ध है। स्पष्टतः आजादी किसी भी देश के लिए इज्जत का सवाल है स्वतंत्रता चुराना कितना बड़ा वर्चस्व होता है। पूरे विश्व में मुक्ति-संग्राम के लिए प्रेरणा स्रोत के रूप में साहित्य ने बड़ी भूमिका निभाई है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. अकबर इलाहाबादी, रेख्ता
२. डॉ० राम विलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा का विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सं० १९९८, पृ० ३२
३. डॉ० राम विलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० १९९८, पृ० ६८
४. सं० नंद किशोर नवल, स्वतंत्रता पुकारती, पृ० २९, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, प्र०सं० २००६
५. डॉ० राम विलाश शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ०सं० १०
६. डॉ० शिव कुमार मिश्र, भारतेन्दु अंतर्वरोधों के बीच, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण पृ०सं० ७०
७. डॉ० राम विलाश शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ३५
८. डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास (२००७) ओरिएंट ब्लैक स्वान, हैदराबाद, पृ०सं० ८८

९. आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० सं० ५५-५६
१०. डॉ० जयकिशन प्रसाद, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ०सं० ३१५
११. इन्द्र बहादुर खरे, आजादी के पहले आजादी के बाद (२०२०) वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली-११०००२, पृ० ४८
१२. स्वदेश कविता, गया प्रसाद शुक्ल सनेही।
१३. माखन लाल चतुर्वेदी, पुष्प की अभिलाषा।

**-सहायक प्राध्यापक**
**शासकीय महाविद्यालय, विरसिंहपुर**
**पाली, उमरिया (म०प्र०)।**
**मो० ९८३९२८५९७०**
**E-mail: giriji85@gmail.com**

# बेचारा भला आदमी : हरिशंकर परसाई

–डॉ० प्रशान्त गौरव

हरिशंकर परसाई व्यंग्य-शतरंग के अव्वल खिलाड़ी हैं और उनके शतरंज पर सारे मोहरे शब्द के होते हैं और वे सारे-के-सारे ढाई घर या आड़ी-तिरछी चलते हैं और उनमें बनी उनकी हर पंक्ति दबे-कुचले जीवन के किसी-न-किसी कोने का चित्र बना देते हैं। इनता ही नहीं, वे दबाने-कुचलने वालों का साफ-साफ चित्र भी बना देते हैं-पढ़ो और देख लो शोषित का खुला जीवन औरशोषक का सात चमकीली परतों से ढका-छिपा जीवन। परसाई घोषित करते हैं कि ''मैं शाश्वत साहित्य नहीं लिखना चाहता, मैं ऐसा साहित्य लिखना चाहता हूं, जो आज लिखूं और कल मिट जाए। यानी रचना का आधार, विसंगतियां समाप्त हो जाए।''[१]

आत्मकथात्मकशैली में लिखी यह रचना सामाजिक व्यवस्था पर एक अद्‌भुत व्यंग्य है, जो आज भी प्रासंगिक है। इस रचना में अपनी दृष्टि में परसाई दोशब्द लेते हैं-'भला' और 'बेचारा' और दोनों के बीच का गहरा सम्बंध बताते हुए इनके निर्माण में समाज के कई कोटि के उच्चस्तरीय लोगों के योगदान का विवरण दे देते हैं-वे बताते हैं-हम 'भला' उसी को कहेंगे जो 'बेचारा' हो![२]

यह इस युग की सच्चाई है- अगर कोई बेचारा दिख रहा है, तो वह जरूर ही भला आदमी होगा, ईमानदार होगा, सत्यवादी होगा, सदाचारी होगा, न्यायप्रिय होगा, कुल मिला कर सद्‌गुणों की खान होगा। मनुष्य अपने इन्हीं गुणों के कारण बेचारा हो जाता है-फिर वह पूरे उच्चवर्गीय समाज का सेवक या 'बेचारा भला आदमी' हो जाता है।बेचारा भला आदमी खुद दीन-हीन होते हुए दूसरों के सुख का कारण बनता है- जो चाहता है उसका उपयोग करता और फेंक देता है-वह आधुनिक बाजार के 'यूज एण्ड थ्रो' सामग्री जैसा होता है।

आज का बेचारा भला आदमी भी बेगार खटते-खटते हलकान रहता है, फिर भी अपने को इस दुनिया में अकेला पाता है, किसी गली में दुबका हुआ, ठंड में काँपता हुआ, गर्मी में पसीने से नहाता हुआ, बरसात में भीगता हुआ और वसंत में वह यत्र-तत्र-सर्वत्र रंगबिरंगे फूलों को छोड़ कर सूने आकाश को ताकता रहता है। वह उधार में जीवनशुरू करता है और उधार चुकाते-चुकाते संसार से विदा लेता है- लोग उसके मरने पर उसके लिए तीनशब्द कहते हैं- 'बड़ा भला आदमी' था! इस प्रकार हरिशंकर परसाई 'बेचारा भला आदमी' में भले आदमी

की बेचारगी की तसवीर, आड़ी-तिरछी व्यंग्य-भाषा में उकेर देते हैं।

परसाई ने भला आदमी के बेचारा होने की अनिवार्यता पर इस कहानी में शोध किया है और पाया है-

''जब तक हम किसी को बेचारा न बना दें, तब तक उसे भला नहीं कहेंगे। क्यों? इसके दो कारण हैं-पहला तो यह कि जो बेचारा नहीं है, वह हमें अपने लिए चैलेंज लगता है। उसे हम भला क्यों कहें? दूसरा कारण यह है कि जो बेचारा है, उसे हम दबा सकते हैं, लूट सकते हैं-उसका शोषण कर सकते हैं।''[३]

परसाई युग से लेकर अब तक बहुत से सक्षम आदमी लगे हुए हैं, अपने लिए कम से कम एक बेचारा आदमी बनाने में ताकि उनके लिए समाज में एक ऐसा बेचारा भला आदमी मिल जाए, जिसका वे शोषण कर समाज में अपना रुतबा बढ़ा सकें, अपना स्टेटस बना-बढ़ा सकें। वे नेता, अधिकारी, व्यापारी, अत्याचारी, बाहुबली, डाकू, लुटेरे जैसे माननीय हो सकते हैं- इन दिनों इसी प्रकार के आदमी 'बेचारा भला आदमी' बनाने वाले के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे मालिक हैं और'बेचारा भला आदमी' तो चाकर है। परसाई ने इस व्यंग्य रचना में उन लोगों को भी पहचाना है, जिनको समाज में बेचारा भला आदमी कहा जाता है। कुछ की खुल कर पहचान बताई है और कुछ की इशारतन-

''जो हर काम के लिए चन्दा दे देता है, वह बेचारा भला आदमी है। जो लेखक बिना पैसे लिए अखबार के लिए लिख देता है, उसे सम्पादक बेचारा भला आदमी कहते हैं। टिकट कलक्टर भला आदमी है, क्योंकि वह बिना टिकट निकल जाने देता है। अपनी व्यवस्था ने बहुत सोच समझ कर यह मुहावरा तैयार किया है।''[४]

लोकतन्त्र में आम लोगों ने आकाशी चन्दा को देखना छोड़ दिया है, क्योंकि वह कई कोटि के अनिवार्य चन्दा और चन्दे पर चन्दा दे-दे कर रोज अपनी किस्मत पर जलता-कुढ़ता रहता है। चन्दा वसूलने वाले कई रूपों में आते हैं-नेता और दबंग सबसे बड़े चन्दा प्रिय होते हैं और वे आम आदमी से लेकर खास आदमी तक से चन्दा लेते हैं, अलग-अलग नाम से। आम आदमी से छोटे-छोटे चन्दा लेते हुए नेता उनके चन्दा को अपने प्रति उनका प्रेम कहते हैं। खास आदमी भी नेता और उसकी पार्टी को चन्दा का दान कर देता है और रिटर्न-दान में ठेका प्राप्त करता है- ठेका पाने वाला सूई बनाने में नाकाबिल होते हुए भी सुपर सोनिक जेट बनाने का ठेका पा लेता है। बेचारा भला आदमी सिर्फ चन्दा देता है, और चन्दा बटोरने वाले से कुछ पाता नहीं है। खास आदमी चन्दा दे कर नेता के साथ लाभ का व्यापार करता है। लेखक भी आमतौर से सम्पादकों और प्रकाशकों के लिए बेचारा भला आदमी होता है क्योंकि बड़ी मेहनत और लगन से वह अपनी रचना लिखता है, उसे टाइप करता है और

उनको सम्पादकों और प्रकाशकों को दान कर देता है। रेलवे का टिकट कलक्टर, हाईवे के टोल नाका का कलक्टर वीआईपी लोगों के लिए टिकट-फ्री, टोल-फ्री सिग्नल दे देता है-वीआईपी लोग जितनी बार बिना टोल टैक्स चुकाए पार कर जाते हैं, उतनी बार उनका रुतबा अपग्रेड हो जाता है। आम आदमी टोल चुकता करता है और टोल नाका वाला उसे बेचारा भला आदमी कहता है-वह जितनी बार टोल टैक्स देता है उतनी बार उसकी बेचारगी अपग्रेड होती है। इस प्रकार परसाई जी ने पाया है मुहावरा 'बेचारा भला आदमी' सामाजिक स्तर पर दबंग, आर्थिक रूप से सम्पन्न, राजनीतिक रूप से या बाहुबल से पावरफुल लोगों ने बहुत सोच विचार कर बनाया है-यह मुहावरा टिकाऊ और लोकप्रिय है और यह लोकतंत्र का पाँचवाँ स्तम्भ है। परसाई ने कुछ बेचारे भले लोगों की छानबीन के बाद विवरण भी दिया है-

''एक मकान मालिक कहता था कि पाण्डे बेचारे बड़े भले आदमी हैं। पाण्डेय जी उनके मकान में किराए पर रहते हैं। एक बरसात के दिन मैं पाण्डेय जी के घर गया। देखा कि सारे घर में पानी टपक रहा है। उनसे कहा कि मकान मालिक से मरम्मत के लिए क्यों नहीं कहते? पाण्डेय जी ने लापरवाही से कहा-'ऊँह, १०-१२ दिन ही तो पानी के होते हैं। निकल जाएँगे।' मकान-मालिक कहता है कि पाण्डेय जी बेचारे भले आदमी हैं। एक सज्जन अफसर कहते हैं कि राजेन्द्र मास्टर बेचारा भला आदमी है। जाँच करने पर मालूम हुआ कि मास्टर साहब उनको मुफ्त में पढ़ा जाते थे।''[५]

इस उद्धरण में किराएदार पाण्डेय जी बेचारे भले आदमी हैं- ऐसा उसके मकान मालिक कहते हैं-क्योंकि वह बरसात में चू रही छत के नीचे रह सकता है, मालिक से बिना कोई कम्पलेन किए! राजेन्द्र मास्टर भी उस अफसर के लिए बेचारा भला आदमी है, क्योंकि वह उसके बेटे को मुफ्त में घर आकर पढ़ा जाता है। ऐसा किराएदार और ऐसा मास्टर आज बड़ी संख्या में हरशहर और हर गाँव में पाए जाते हैं! आज किसी बेचारे भले आदमी को बड़ी मुश्किल से किराए पर मकान नसीब होता है, अतः वह चूने वाली छत की मरम्मत करने के लिए मकान मालिक से नहीं कह सकता- एक छोटी सी शिकायत उसे बरसात में बेघर कर सकता है-यही एक भला आदमी की मजबूरी होती है। मजबूर आदमी के लिए जीने का एक ही फारमूला है-'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिए!' राजेन्द्र मास्टर बेचारा भी भला आदमी है- अफसर के घर आकर उसके बेटे को न पढ़ाए तो उसकी नौकरी पर प्रश्न चिन्ह लग सकता है- मास्टर आजकल मजबूर हो तो बेचारा होता है, वह अफसर क्या छात्रों से भी डरता है। वर्तमान व्यवस्था में अस्सी प्रतिशत आदमी बेचारा ही होता है। एक सिपाही अपने थाने में भले एसपी की तरह आम आदमी को डाँट दे, डंडे से ठोक दे और गरिया दे लेकिन एसपी साहब की मेम साहिबा के आदेश पर वह उनकी चप्पल भी साफ कर सकता है। उनके

बच्चों से इडियट और रास्कल भी सुन कर सॉरी सर कह सकता है- समय और स्थान बदलने पर सिपाही बेचारा भला आदमी हो जाता है, जैसे किसी राज्य का मुख्यमंत्री पार्टी हाइकमान के आगे मुख्यसंत्री भी नहीं रह जाता।

इस रचना में बिना चुनाव-टाइम का जिक्र किए चुनाव-टाइम में चुनाव लड़ रहे नेता की बेचारगी के दृश्य और चुनाव जीतने के बाद उसकी राजशाही के दृश्य परसाई ने जीवंत कर दिए हैं-

''पिछले दस सालों से एक आदमी के बारे में सुन रहा हूँ कि वह बेचारा भला आदमी है; लँगोटी तक उतार कर दे देता है। उस भले आदमी ने कोट उतार कर दे दिया, टोपी उतार कर दे दी, धोती उतार कर दे दी और लँगोटी उतार कर दे ही रहा था कि सावधान हो गया। उसने फिर पूरे कपड़े पहन लिए। अब कोई उसे भला आदमी नहीं कहता, क्योंकि वह 'बेचारा' नहीं रहा।''[६]

आज भी चुनाव का टिकट पार्टी से पाते ही वह नेता जनता के बीच जाता है और यह दिखलाने के लिए कि वह बेचारा भला आदमी है, वह अपने सुनहले कोट, और अन्य कीमती वस्त्र उतार कर जाड़े के दिन में भी फटा-पुराना कपड़ा पहन कर किसी गरीब की कुटिया के पास जाकर वोट की याचना करते हुए लगता है कि वह निराला का बेचारा भला भिक्षुक है- वह आता दो टूक कलेजे को करता....नेता हाथ मलते हुए कहता है-चाचा जी, जरा घूरा तो जलाओ, दाँत किटकिटा रहे हैं, ठंड से शरीर अकड़ा जा रहा है! हकीकत का बेचारा भला आदमी यानी चाचा जी, उसके लिए घूरा जलाते हैं, उसे लाल चाय पिलाते हैं और फिर वह कार में बैठ कर निकलते हुए निवेदन करता है, हाथ जोर कर-'चाचाजी, आप जानते हो मैं आपका प्रिय बेचारा भला आदमी हूँ। आप अपना कीमती वोट इस गरीब बेचारा भला आदमी को देना तुम्हारी बेचारगी तो मैं मिटा कर ही दम लूँगा।' वह नेता इस प्रकार चुनाव टाइम की अपनी बेचारगी कार में बैठते ही दूर कर चाचाजी को एक तगड़ी गाली देते हुए कार में ही अपने सुनहले कोट को पहन लेता है-यह दृश्य भारतीय लोकातंत्र में बहुत कॉमन हो गया है-हर नेता चुनाव टाइम में बेचारा भला आदमी बन जाता है! चुनाव टाइम में जो नेता ढोंग नहीं करता वह चुनाव हार जाता है! जो नेता झूठ नहीं बोलता वह चुनाव हार जाता है। जो नेता चन्दाजीवी नहीं होता वह चुनाव हार जाता है। परसाई ने वर्षों पहले यह व्यंग्य रचना परोसी थी और आज यह पहले से भी अधिक ताजा, गरम और प्रासंगिक हो गई है।

रचना का समापन करते हुए व्यावहारिक पाठ पाठकों को देते हैं- जैसे ही कोई कहे कि आप 'बेचारा भला आदमी' हो सावधान हो जाओ- यह मुहावरा झाँसा देने के लिए झाँसेबाज ही बनाता है, कोई अच्छा भला आदमी नहीं- वह तुम्हारे श्रम का शोषक है, लुटेरा है-

''मुझे इस बेचारा भला आदमी से डर लगता है। अगर मैं देखता हूँ कि मेरे बगल में ऐसा आदमी बैठा है, जो मुझे 'बेचारा भला आदमी' कहता है, तो जेब सम्भाल लेता हूँ। क्या पता जेब काट ले।''[७]

वस्तुतः शोषक प्रवृत्ति के लोग जिसको 'बेचारा भला आदमी' कहते हैं वह उसका शोषण करते हुए उसकी पीठ ठोकता रहता है, शाबाशी देता रहता है, उसकी तारीफ करता रहता है क्योंकि वह मुफ्त का सेवक होता है। और, उससे काम करवाते ही उसे भूल जाता है और दूसरा 'बेचारा भला आदमी' तैयार कर लेता है। 'बेचारा भला आदमी' वह व्यक्ति होता है, जिसको सक्षम लोगदीनहीन बनाए रखने की सदैव व्यवस्था करते हैं ताकि वह उनके लिए उनका प्रतिस्पर्धी न बन जाए या वह उनका 'चैलेंज' न करने लग जाए यानी बराबरी में खड़ा होने का प्रयास न करे। बेचारा भला आदमी कड़ी धूप में भाषण सुनने वाला दीनहीन जीव होता है और शोषक सुगन्धित फूलों से सजे, ए०सी० लगे मंच से भाषण देने वाला नेता होता है। बेचारा भला आदमी सभा में ताली बजाने के लिए लाया जाता है, धूप में बैठया जाता है और वह कभी इशारों पर ताली बजाता है, कभी शपथ लेता है मंचासीन नेता को ही वोट देगा, क्योंकि वह उसकी जाति का है या उसकी जाति-धर्म का हितकारी है, कभी अपने ही समाज के कुछ लोगों के बारे में उसे मंचासीन नेता से जानकारी मिलती है कि उसे अपने किस पड़ोसी से सावधान रहने की जरूरत है, किस पड़ोसी से घृणा करने की परम आवश्यकता है, किसे अपने से दूर रखना है। नेता सर्वज्ञानी और भाषण से अनुगृहीत होने वाला बेचारा भला आदमी हर चुनाव समय में कुछ स्वजनों से कट जाता है और अपने वोट को उस नेता की झोली में डाल देता है, जो सेवा देता नही, बल्कि बेचारा भला आदमी की सेवा लेता है और उसका वोट पाकर राजा बाबू बन जाता है!

सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था पर परसाई की रचना 'बेचारा भला आदमी' एक करारा तंज है और इसमें सच्चाई भी है, तर्क भी है, और 'बेचारा भला आदमी' के कुछ सटीक उदाहरण भी हैं। यह रचना तब तक प्रासंगिक रहेगी, जब तक समाज में आर्थिक विषमता और चुनाव प्रक्रिया पूँजी आधारित रहेगी। कल भी नेताशोषक थे, आज भी हैं। कल भी प्रकाशक लेखकों को चूना लगाते थे और रॉयल्टी पचा लेते थे, आज भी पचा लेते हैं। आज भी बेईमान व्यापारी गरीब खरीदार को उधार में, त्वरित ऋणपर सामग्री देते हैं और बकाया वसूली करते हुए मूल्य से अधिक पैसा वसूल लेते हैं और खरीदार उसके लिए 'बेचारा भला आदमी' होता है।

परसाई की इस रचना में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आम आदमी एक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चक्रव्यूह में फँस कर 'बेचारा भला आदमी' हो जाता है। उसकी

बेचारगी स्थाई होती है, गरीबी स्थाई होती है और शोषक लोगों की अमीरी प्रगतिशील होती है। बेचारा भला आदमी गरीब होने कारण सदाशोषकोंका सेवक होता है और वह प्रायः इस भ्रम में रहता है कि शोषक ही उसका अन्नदाता है, ऋणदाता है, मददगार है। जबकि हकीकत में वह लुटेरा होता है। यही कारण है कि परसाई ने कुछ बेचारे भले आदमी की पहचान बताई है और बेचारा भला आदमी बनाने वाले आदमी की भी पहचान बताई है। वस्तुतः परसाई एक खोजी पत्रकार की तरह व्यंग्य-लक्ष्य को तलाशते जाँचते हैं और उस व्यंग्य-लक्ष्य द्वारा सताए-शोषित लोगों को भी तलाशते-जाँचते हैं। इस रचना में भी वे यह काम करते हैं, जब एक अधिकारी राजेंद्र मास्टर को 'बेचारा भला आदमी' कहता है, तो वे जाँच कर पाठक को रिपोर्ट देते हैं-

''जाँच करने पर मालूम हुआ कि मास्टर साहब उसके बेटे को मुफ्त पढ़ा जाते थे।''[८]

बिना जाँचे-परखे लिखा कोई भी साहित्य यथार्थ से दूर होता है और वह प्रभावी भी नहीं होता है। परसाई का विश्वास यथार्थ लेखन में है और उनकी तार्किकता कबीर की तरह प्रखर और विचारोत्तेजक है। परसाई के व्यंग्य के सम्बंध में सुरेश कांतने लिखा है-

''परसाई का व्यंग्य ऊपर से जितना कठोर,आघातकारी,यहां तक कि लट्ठमार लगता है, भीतर से वह उतना ही करुण,संवेदनशील और मानवीय प्रतिष्ठा की चिंता से सराबोर है। निस्संदेह जब व्यक्ति व्यापक मनुष्यता एवं सामाजिकता के हित से उद्वेलित एवं पीड़ित होता है, तब वह या तो कबीर के फक्कड़ाना अंदाज में बोलने के लिए विवश होता है अथवा परसाई की बेलौस और तीखी जुबान में अपनी बात कहने के लिए बाध्य होता है।''[९]

वस्तुतः परसाई की चिंता के केंद्र में मनुष्य है, उसका समाज है, समाज की स्वस्थ संभावनाएं हैं।परसाई देश-विदेश, गाँव-शहर में घट रही घटनाओं का सच जानने के लिए अपने सभी स्रोतों को सक्रिय रखते और जब उनका शोध पूर्ण होता, तो उनकी सभी व्यंग्य कहानियाँ या आलेख कबीरी व्यंग्य के उदाहरण बन जातेहै। वे अपने व्यंग्य में शब्दों का चमत्कार नहीं भरते, बल्कि वे कबीर की तरह सत्य और तर्क के यथार्थ संयोजन से व्यंग्य की रचना करते हैं, साथ ही वे अपनी आत्म कहानी लिखकर उसे समय और समाज की कहानी बना देते हैं। परसाई को आधुनिक युग का कबीर कहूँ तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इस टिप्पणी के आलोक में 'बेचारा भला आदमी' का अनुशीलन करेंगे तो पाएँगे कि इसकी रचना के मुख्य तत्त्व सत्य, विवरण और अकाट्य तर्क है और साथ-साथ परसाई शब्द की व्यंजना-शक्ति का भी प्रयोग करते हैं और अपनी कहानी सुनाते हुए उसे जग की कहानी बना देते हैं। व्यंग्य में समय का सबसे अधिक महत्त्व होता है- 'स्ट्राइकव्हाइल द आइरन इज हॉट'-परसाई समय के अनुरूप लिखते हैं,समय की सीमा विस्तारित करते हैं। परसाई वैसी

रचना करने में सचेष्ट दिखते हैं जो विगत, वर्तमान और भविष्य को भी विवेचित करता है। 'बेचारा भला आदमी' भी एक लम्बे जीवन वाली रचना है। यह तब तक प्रासंगिक रहेगी जब तक समाज में विषमता का जाल फैलाता पूँजीवाद समाज में प्रभावी है। पूँजीवाद में पूँजीवाला ही श्रेष्ठ होता है और शेष सभी 'बेचारे भले आदमी' होते हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. विश्वनाथ त्रिपाठी,भारतीय साहित्य के निर्माता हरिशंकर परसाई, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पृष्ठ-६२
२. हरिशंकर परसाई रचनावली, भाग-३, २०१६, राजमकल प्रकाशन, दरियागंज, १-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२, पृष्ठ-६८
३. वही, पृष्ठ-६६
४. वही, पृष्ठ-६६
५. वही, पृष्ठ-६६
६. वही, पृष्ठ-६६-१००
७. वही, पृष्ठ-६६-१००
८. वही, पृष्ठ-६६
९. सुरेश कांत, हिंदी गद्य लेखन में व्यंग्य और विचार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,पृष्ठ-१६५



**-सहायक प्राध्यापक,**
**हिन्दी विभाग, गोस्सनर कॉलेज, रांची**
**मो०-६४३०४०८२२१**

# एक संघर्षशील नारी की कहानी : अन्या से अनन्या

–नीलम साव

हिन्दी गद्य साहित्य में कहानी, उपन्यास, नाटक विधा महत्त्वपूर्ण तो है ही, परन्तु इस विधा में आत्मकथा भी पीछे नहीं है। आत्मकथा का विकास लगभग बीसवीं शताब्दी के आस-पास हुआ। आत्मकथा से आशय है अपने जीवन के परत-दर-परत को खोलकर तटस्थता के साथ रख देना। जिस आत्मकथा में जितनी तटस्थता होती है वह उतनी ही सफल आत्मकथा मानी जाती है। रचनाकार के जीवन से सम्बन्धित कोई भी घटना हो, चाहे सामाजिक जीवन हो, पारिवारिक सम्बन्ध हो, आर्थिक स्थिति हो या फिर कोई अन्य पहलू उसे बिना कुछ छिपाये पूरी सत्यता के साथ समाने रख देना ही आत्मकथा है। आत्मकथा के विषय में डॉ० सूरज प्रसाद मिश्र कहते हैं कि- ''आत्मकथा के माध्यम से लेखक अपने अनेक प्रयोजनों को पूरा कर सकता है। वह अपने व्यवहार, ध्दिान्तों और कार्यों के पक्ष में बात रख सकता है और साथ ही अपने विरोधियों को पराजित कर सकता है। आत्मकथा लेखन का मकसद यह भी माना जाता है कि कुछ लोग अपने साथ हुए अपमान, प्रतिकूल व्यवहार, उपेक्षा आदि के प्रतिशोध के लिए आत्मकथा विधा का सहारा लेते हैं।''[१] आत्मकथा के क्षेत्र में जब महिला लेखिकाओं ने कदम रखा तो मानों भूचाल आ गया हो। एक स्त्री का जीवन पुरुष के जीवन से अधिक संघर्षपूर्ण होता है। वह स्त्री चाहे किसी बेहद सम्पन्न परिवार से हो या फिर निर्धन घर से। महिला आत्मकथा लेखन के विषय में सुधा सिंह का मानना है कि- ''स्त्री जब आत्मकथा लिखती है तो वह अपनी निजी हानियों से उबरने के लिए आत्मकथा लिखती है। वह कथा, करुणा, आदि भाव को जगाने के लिए नहीं लिखती है। समाज में स्त्रियों की जो नारकीय अवस्था है वह किसी भी चेतनासम्पन्न स्त्री को परेशान कर सकता है। ऐसे में स्त्री आत्मकथा कोई ट्रेड सेट करने, वाद चलाने या इतिहास में अमर होने के लिए नहीं होती, बल्कि इस नारकीय अवस्था के मूल्यांकन और पड़ताल के लिए होती है। इसमें वह आत्म (सेल्फ) को परिभाषित करने के संघर्ष से गुजरती है।''[२]

संघर्षपूर्ण महिला आत्मकथा की बात हो और प्रभा खेतान शामिल न हो यह तो असम्भव है। इस क्रम में उनका नाम सबसे पहले आता है। प्रभा खेतान बहुचर्चित स्त्रीवादी लेखिका हैं। इनका जीवन अत्यन्त संघर्षपूर्ण एवं दुःखदायी रहा है। प्रभा खेतान सफल व्यवसायिक मारवाड़ी

सम्पन्न परिवार की लड़की, जिन्होंने अपने जीवन में बहुत अकेलापन देखा था। बचपन में भरे-पूरे परिवार के होते हुए भी आत्मकथाकार कुण्ठित एवं एकांकीपन से भरा हुआ बचपन जीती है। लेखिका अपने भाई-बहनों में सावली थी इस कारण माँ के प्रेम से हमेशा वंचित रही थीं। भाई-बहन भी हमेशा चिढ़ाते रहते थे जिस वजह से वे उन लोगों से घुल-मिल नहीं पाती थी। आत्मकथाकार स्वयं कहती है- ''कैसा अनाथ बचपन था। अम्मा ने कभी मुझे गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घण्टो उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला ले। शायद..... हाँ, शायद अपनी रजाई में सुला लें। मगर नहीं, एक शास्वत दूरी बनी रही, हमेशा हम दोनों के बीच। अम्मा मेरी बातों को समझ नहीं पाती थीं।''[३] लेखिका को जब पहली बार पीरिड्स हुआ था तब माँ ने उन्हें बहुत बुरी तरह डाटा था। जिससे मन में अपराधबोध ने जन्म ले लिया था। पिता के गुजरने के बाद आत्मकथाकार अपनी पढ़ाई के खर्च का इन्तजाम खुद करती है क्योंकि परिवार वाले खर्च देने से इन्कार कर देते हैं।

प्रभा खेतान बाईस की उम्र में डॉ० सर्राफ से मिलती हैं। जो नेत्र विशेषज्ञ थे। पहली मुलाकात में ही लेखिका अपना तन-मन डॉ० सर्राफ को दे बैठती है। डॉ० सर्राफ चालीस वर्षीय तथा विवाहित एवं पाँच सन्तानों के पिता थे। इस रिश्ते को आगे बाने से डॉ० सर्राफ लेखिका को रोकते भी हैं पर लेखिका नहीं मानती है। इस प्रेम प्रवाह में खुद को बहने देती है जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें गर्भपात करवाना पड़ता है जिस कारण वे कभी माँ नहीं बन पाई। एक सम्पन्न परिवार की लड़की ४० वर्षीय विवाहित पुरुष के पीछे पागल थी, कारण था उनका उपेक्षित बचपन तथा घोर अकेलापन। डॉ० सर्राफ अपनी पत्नी को छोड़ नहीं पाते हैं और लेखिका को अपने जीवन में दूसरी औरत होने का सबसे बड़ा दंश झेलना पड़ता है।'' राजेन्द्र यादव के अनुसार अन्या से अनन्या में नायिका की सारी तकलीफ है कि वह प्रेमिका है, पत्नी नहीं बन पाई।''[४] बाईस की उम्र से लेकर पचास की उम्र तक लेखिका और डॉ० साहब का सम्बन्ध रहा। लेखिका ने विवाह नहीं किया, समाज का सारा आक्रोश, ताने उन्हें ही सहने पड़ते हैं। डॉ० सर्राफ के आर्थिक सम्पन्नता पर कभी उन्होंने अपना अधिकार नहीं माँगा।

लेखिका की पहली विदेश यात्रा अमेरिका से शुरू हुई थी। अमेरिका जाने के लिए टिकट का इन्तजाम खुद करती हैं। इस पराए देश में वे बहुत सारी परेशानियों का सामना करती हैं। अमेरिका में लेखिका मिसेज ड्यूपांट के यहाँ वार्डरोब मैनेज करने की नौकरी करते हुए बेवरिल हिल हेल्थ क्लब से व्यूटी थेरापी कोर्स में डिप्लोमा करती हैं। भारत लौटने पर फिगरेट नाम से हेल्थ क्लब भी खोलती है, जो सफल रहता है। लेखिका अपनी सामाजिक जीवन में धीरे-धीरे सफलता पा रही थी परन्तु उनके आन्तरिक जीवन में बवण्डर मचा हुआ रहता था। एक

विवाहित पुरुष से सम्बन्द रखने के कारण परिवार के लोग नाराज रहते थे, वही बाहर आयेदिन लेखिका को दूसरी औरत होने पर तंज कसा जाता है। आत्मकथाकार कहती- ''मैं प्रभा खेतान.... मैं कौन हूँ? क्या मेरी कोई पहचान नहीं है? मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई, मैं विधवा नहीं क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी हुई रण्डी भी नहीं. .. क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती। मैं किसी पर निर्भर नहीं करती, स्वावलम्बी हूँ, अपना भरण-पोषण खुद करती हूँ।.... स्वीकार लेते, आवारगी को समाज स्वीकार लेता है। मगर अविवाहित रहकर एक विवाहित पुरुष के साथ रहना नहीं।''[५] पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री का विवाहित पुरुष से प्रेम करना अपने आप में घोर अपराध है। जिसका दण्ड समाज केवल स्त्री को नहीं देता है। उस पुरुष को नहीं जो कि समानरूप से भागीदार है। यह समाज का अत्यन्त पक्षपाती रूप है। लेखिका इस दूसरी औरत की तंज से बचने के लिए दर्शनशास्त्र में सार्त्र पर पी-एच०डी० तक करती है, ताकि वे इस सवाल से बच सकें कि वह मिस है या मिसेज और अपनी एक नई पहचान के साथ परिचित करवा सकें डॉ० प्रभा खेतान।

लेखिका, डॉ० सर्राफ और मिस्टर बासु के पार्टनरशिप में चमड़े का व्यवसाय करना शुरू करती है। इससे पहले लेखिका ने इस व्यवसाय के लिए बहुत संघर्ष किया था। कलकत्ते के उन तमाम अंधेरे गलियों में अकेल गयी, चमड़े से जूते, वह्लेट बनाना सीखा। लेखिका ने अकेले ही तमाम विदेश यात्राएँ करी, बिजनेस डील के लिए डोटेल्स में अकेले जाती थीं। जो स्त्री स्वतन्त्रता पूर्वक सब कुछ स्वयं सँभालती थी पर बैंक का खाता डॉ० सर्राफ के पास रहता था। कब, कहाँ, कितना खर्च हुआ? कितना मुनाफा हुआ इन सबका हिसाब डॉ० सर्राफ रखते थे। जब डॉ० सर्राफ और लेखिका दोनों साथ में डॉ० साहब के इलाज के लिए अमेरिका गये हुए थे। तब डॉ० सर्राफ अपने घरवालों के लिए खुलकर शॉपिंग करते हैं। परन्तु जब लेखिका ने अपने व्यापार के लिए सैम्पल के रूप में ढाई सौ डॉलर का बैग खरीदी तब डॉ० साहब उन पर बहुत बिगड़ते हैं और उन्हें जैक्सन हाइट के फुटपाथ पर अकेला छोड़ उनका पासपोर्ट और वॉलेट लेकर चले जाते हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि डॉ० सर्राफ प्रेम की आड़ में प्रभा खेतान का आर्थिक शोषण किये थे। लेखिका को भी इस बात का एहसास था, राजेन्द्र यादव इस विषय पर कहते हैं कि- ''उसे कहीं शिकायत भी थी कि डॉ० सर्राफ ने एक योजना के तहत उसका गर्भपात कराया था कि वे अपने किसी बेटो को गोद लेने के लिए प्रेरित कर सकें, बिजनैस पार्टनर तो बना ही दिया था।''[६]

लेखिका को लगता था कि वह डॉ० सर्राफ के परिवार में घुसपैठिया है, इसलिए उस परिवार को खुश रखना इनका पहला कर्त्तव्य है। आत्मकथाकार अपनी जरूरत से पहले उसी

परिवार की जरूरत का ध्यान रखती है। जिसमें वे खुद को खोने-सी लगती है। डॉ० साहब के परिवार वाले अपनी स्वार्थ अनुसार लेखिका के साथ व्यवहार करते हैं। मन होने पर उनसे प्रेम पूर्वक व्यवहार करते थे और ना होने पर उन्हें दुत्कार देते थे। लेखिका के मन में यह कसक रहती थी कि वे किसी का रोल मॉडेल नहीं बन सकीं। कोई लड़की उनके जैसा नहीं होना चाहती थी। वे महसूस करती थी कि उनकी सारी सफलताएँ एवं उपलब्धियाँ सामाजिक कैसौटी पर चमक खो बैठती है। वे मानती है- ''मेरी सबसे बड़ी त्रासदी थी कि मैं हमेशा भय में रहती, समाज के ताने-बोली का भय, डॉ० साहब के विमुख होने का भय, उनके परिवार मेां एक बाहरी व्यक्ति ही बनकर न रह जाऊँ, इसका भय, भय मेरा स्थायी स्वभाव बन गया।''[७]

लेखिका ने हार नहीं मानी, लड़ती रही, जूझती रही और कामयाब भी हुई। वे कलकत्ता चैम्बर ऑफ कॉमर्स की पहली महिला अध्यक्ष बनी। लेखिका का जहाँ सामाजिक जीवन सँवर रहा था वहीं उनका निजी जीवन बिखर रहा था। लेखिका आयात-निर्यात काम के कारण व्यस्त रहती थीं। डॉ० सर्राफ अक्सर लेखिका के चरित्र पर सवाल उठाते थे, जिससे अक्सर उन दोनों के बीच टकराव होता रहता था और लेखिका बेहद अन्धकार भरे एकाकीपन में धँसती चली जाती थी। दोनों के रिश्ते में तनाव बढ़ता चला जाता। वे अक्सर यह सोचती थी कि पुरुष कमजोर स्त्री से ही क्यों प्रेम करता है? सबल स्त्री से चिढ़ता क्यों है? उन्हें लगने लगा था कि अब डॉक्टर साहब के साथ रहना असहनीय होता जा रहा है। वे उनके जीवन को अत्याधिक नियन्त्रण करने लगे हैं। सुरेश पण्डित का इस पर यह मत है कि- ''प्रभा खेतान एक ऐसी शख्सियत थीं जिनका लेखन रचनात्मक और वैचारिक स्तर पर अपने समकालीन लेखकों की तरह स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की जटिलता, दुर्बोधता और व्यवहार दर्शित को सुलझाने, समझाने की कोशिश करता है। लेकिन वे इस बात का पता लगाने पर अधिक ध्यान देती हैं कि कैसे दोनों के बीच सहज-स्वाभाविक रूप से पैदा हुआ वह आकर्षण जो एक-दूसरे को खुशी देने के लिए कुछ भी कर देने को तैयार होता है, कालान्तर में ऐसे विकर्षण में बदल जाता है कि वे सम्बन्ध विच्छेद की हद तक पहुँच जाते हैं।''[८] लेखिका चाहकर भी डॉ० सर्राफ से अलग नहीं हो पाती है और डॉ० साहब के जीवन के अन्तिम पल तक साथ रहती है। डॉ० सर्राफ को प्रोस्टेट कैंसर हो जाता है। लाख कोशिशों के बावजूद वे बच नहीं पाते हैं। पहले लेखिका की माँ, फिर मंझली दीदी और उसके बाद डॉ० सर्राफ गुजर जाते हैं। एक-एक करके अपने अत्यन्त करीबियों को खोने का दर्द लेखिका झेल रही थीं। वे कहती हैं ''मैं उतनी मजबूत नहीं जितनी दिखती हूँ... मेरा तो इहलोक परलोक में कोई नहीं। हमेशा-हमेशा से अकेली हूँ। निःसंग रही हूँ। किसी का मुझसे प्यार नहीं, किसी का मुझ पर ममता नहीं? स्नेह,

प्यारविहीन.... थार का रेगिस्तान जैसा मेरा जीवन रहा है, जहाँ केवल अकेली चलती रही हूँ।"[६] डॉ० सर्राफ की शोक सभा में उनकी पत्नी और बच्चों के बारे में जिक्र होता है। परन्तु जिसने अपना सारा जीवन, खुशियाँ डॉ० सर्राफ और उनके परिवार पर कुर्बान कर दिया, उस प्रभा खेतान के विषय में कोई कुछ नहीं बोलता। और इस तरह से आत्मकथा का अन्त ट्रैजडी के रूप में होता है। जहाँ समाज की निष्ठुरता, क्रूरता साफ रूप से झलक रही है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रभा खेतान ने अपने निजीी जीवन में जितना संघर्ष किया उतना ही सामाजिक जीवन में भी। प्रेम एवं विवाह को लेकर समाज द्वारा बनाये गये नियमों को लेखिका तोड़ देती है। लीक से हटकर चलती है और इस पितृसत्तात्मक समाज में अपने संघर्षों द्वारा खुद को स्थापित करती है। इन सारी विशेषताओं के कारण वे अन्या से अनन्या बन जाती है। आज के समाज के लिए वे एक प्रेरणा हैं कि स्त्री जो चाहे तो हर विषम परिस्थितियों में भी सफलता हासिल कर सकती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. मिश्र, डॉ० सूरज प्रसाद, हिन्दी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ, अमन प्रकाशन, कानपुर, २०११, पृ० १०

२. सिंह, सुधा, हस्तक्षेप, जिन्दगी के विस्तार का लेखन है स्त्री आत्मकथा

३. खेतान प्रभा, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, २००७, पृ० ३१

४. यादव, राजेन्द्र, अरे, ये लाइन क्यों कट गई? (प्रभा खेतान : एक अधूरी आत्मकथा), हंस, नववम्बर २००६, पृ० १५

५. खेतान प्रभा, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, २००७, पृ० १२

६. यादव, राजेन्द्र, अरे, ये लाइन क्यों कट गई? (प्रभा खेतान : एक अधूरी आत्मकथा), हंस, नववम्बर २००६, पृ० १६

७. खेतान प्रभा, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, २००७, पृ० १७४

८. पण्डित सुरेश, अन्या से अनन्या बनने कि जिद, वागर्थ, जून २०१२, पृ० ६७

९. खेतान प्रभा, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, २००७, पृ० २६४



**-शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)**
**रेवेंशॉ विश्वविद्यालय,**
**कटक-७५३००३ (ओड़िशा)**
**शोध निर्देशिका-अंजुमन आरा**

# मुक्तिबोध की सामाजिक अभिव्यक्ति एवं उसकी प्रासंगिकता

–सौरभ तिवारी

हिन्दी साहित्य सामाजिक सरोकारों से सीधा संबंध रखता है। भारतीय समाज विभिन्न तत्वों को अवशोषित एवं परमार्जित करता हुआ निरंतर गतिशील है। इस गतिशीलता की प्रक्रिया में विभिन्न उतार-चढ़ाव आते रहना सहज एवं स्वाभाविक है। 'समाज एवं उसके व्यक्तित्वों का चित्रण हमें साहित्य में देखने को मिलता है। संघर्ष की किन-किन प्रक्रियाओं से एक मजबूत व्यक्तित्व का निर्माण होता है तथा किस तरह वह इन संघर्षो का मजबूती के साथ सामना करता हुआ अपने को एवं अपने साहित्य को दिशा देता है।'[१] हिन्दी साहित्य के ऐसे अनूठे साहित्यकार है मुक्तिबोध।

मुक्तिबोध नई कविता के प्रतिनिधि कवि है। आधुनिक जीवन मूल्यों की सशक्त और जीवंत अभिव्यक्ति मुक्तिबोध के काव्य की विशेषता है। उनकी कविता में आधुनिक समाज की विसंगतियों तथा बिडंबनाओं का चित्रण करने के लिए ऐसे विषयों एवं संदर्भों का चयन किया है, जो जीवन की वास्तविकता से संबंध रखते है और पूर्णतः नए है। 'औद्योगिक युग के प्रभावों तथा बदलते हुए परिवेश के सम्पूर्ण संदर्भों को एक नया आयाम देने की उनकी कवि चेष्टा निःसंदेह सराहनीय है। 'उनकी कविता में एक गहन अंतर्वेदना है, भावों के ज्वार के पीछे विचारों की गहनता है तथा कोरी भावुकता के स्थान पर गंभीर बौद्धिकता है।'[२] उनकी रचनाओं में एक स्वस्थ सामाजिक चेतना, लोकमंगल की भावना तथा जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण विद्यमान है। 'मुक्तिबोध नन्ददास की भाँति न जड़िया हैं और न मध्यकालीन कवियों की भाँति गड़िया हैं। वे तो एक लोहार है जो एक ही चोट में अपनी बात कह देते हैं। वे आत्मा, शरीर,विचार और व्यवहार के कवि हैं। वे सच्चे अर्थो में एक अनुभूतिशील कवि है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही काव्य है।'[३] मुक्तिबोध में हमें व्यक्तित्त्व की संकुचित सीमा को तोड़कर व्यापक सामाजिकता का स्पर्श करने की तड़प दिखायी देती है। यही प्रमुख कारण है कि इनके काव्य में सामाजिक यथार्थ के दर्शन अनेक रूपों में किये जा सकते हैं। सामाजिक यथार्थ के प्रति यह आस्था उनके हृदय में निम्न मध्यमवर्ग की दयनीय स्थिति, शोषित वर्ग के प्रति करूणा एवं सहानुभूति का सृजन करती है।

**आज के अभाव के व कल के उपवास के,**
**व परसो की मृत्यु के, दैन्य के महान् अपमान के व क्षोभपूर्ण**
**भयंकर चिंता के उस पागल यथार्थ का दीखता पहाड़....स्याहा।**

'पूँजीवादी सभ्यता के विकास ने पूरी सामाजिक व्यवस्था को रूग्ण कर दिया। ऐसी अवस्था में प्रत्येक श्रेष्ठ मानवीय भाव अधोगति को प्राप्त हुए। अन्याय, अत्याचार, शोषण, अवसरवाद, तथा समझौतापरस्ती का एक पूरा तंत्र समाज में फैल गया।'[४] मुक्तिबोध द्वारा शोषित समाज के चित्रण में 'बौद्धिक सहानुभूति नहीं दिखाई पड़ती बल्कि एक भुक्त भोगी द्वारा करुण यथार्थ का चित्रण मिलता है-

**'मेरी दुनिया उनसे बनती है, जिनके चेहरे पर,**
**चिलचिलाती ये धूप चमकती रहती है।**
**जो धूप के बवंडर सा वक्त समेटते है, जो ईंट के सहारे लेटते हैं**
**और वक्त काटते हैं।'**

'अभिव्यक्ति यदि सच्ची और खरी हो तो वह खतरे से खाली न होगी। पूँजीवादी व्यवस्था में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक आकर्षक प्रचार मात्र है। मुक्तिबोध इस व्यवस्था की विसंगतियों से सुपरिचित है। उन्होंने अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की बात 'अंधेरे में' कविता में की है।'[५] वहाँ वे खुलकर बाहर आते हैं-

**'कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ**
**वर्तमान समाज में चल नही सकता,**
**पूँजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता।'**

मध्यवर्ग की समस्याओं पर उनकी तीव्र दृष्टि पड़ती रही है। उनका ध्यान बराबर व्यक्ति और समाज के बीच से उनकी समस्याओं, रहन-सहन एवं द्वन्द से होकर कविता में अंकित होता है। भ्रष्टाचार, अवसरवादिता इत्यादि से हमारा समाज ग्रसित है, जिसकी पहचान मुक्तिबोध अपनी कविता के माध्यम से करवाते हैं। इसलिए वे समाज से उन सारी सामंती व्यवस्था को हटाना चाहते हैं। अंधेरे में एक संकल्पधर्मिता है-

**'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होगे**
**तोड़ने ही होगे मठ और गढ़ सब।**

'अँधेरे में' एक पूरी क्रांति घटित होती है। वह आत्म-संघर्ष संगत निष्कर्ष पा लेता है। मुक्तिबोध के मन में पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति घोर आक्रोश था। 'जिसने आम आदमी के जीवन को कठिन बना दिया है। इस कारण इनका आक्रोश इस व्यवस्था के प्रति अत्यन्त तीव्र हो जाता है। ऐसे में कवि इस पूँजीवादी व्यवस्था के नाश की कामना करता है-

**इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि, इतना ज्ञान**
**संस्कृति और अन्तः शुद्धि, तू है मरण, तू है रिक्त तू है व्यर्थ**
**तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।**

मुक्तिबोध कहते है कि मेरे बाल मन की पहली भूख सौन्दर्य की थी और दूसरी विश्व मानव के सुख-दुःख की। मुक्तिबोध की मानवीय संवेदना का प्रसार सर्वगामी था। वे जीवनपर्यंत एक ही समस्या को लेकर चितिंत रहे कि-

**मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में सभी मानव**
**सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त कब होंगे।**

मुक्तिबोध सदैव उस जनता के साथ रहते थे जो गरीब है, भूखी है। उसी से अपना सामाजस्य बिठाते उसी में घुल-मिल जाते, उसके दर्द को ही अपना दर्द समझते थे। उसकी अभिव्यक्ति ब्रह्मराक्षस में इस प्रकार है-

**'पिस गया वह भीतरी औ बाहरी, दो कठिन पाटों के बीच**
**ऐसी ट्रैजडी है नीच!'**

मुक्तिबोध ने 'ब्रह्मराक्षस' में केन्द्रीय स्वर के रूप में मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी के आत्मसंघर्ष को रूपान्तरित किया है। मुक्तिबोध की धारणा है कि समाज में बुद्धिजीवी तीन प्रकार के है। पहले वे है जो 'रक्तपायी' वर्ग से नाभिनालबद्ध अर्थात् क्रीतदास है। द्वितीय वे हैं जो सामाजिक दायित्वों से 'असंग' होकर जिंदा रहते है। तीसरे प्रकार के बुद्धिजीवी वे है जिनमें आत्म चेतस् व विश्वचेतस् की युगपत द्वंदात्मक उपस्थिति बनी रहती है।

**आत्मचेतस् किन्तु इस व्यक्तित्त्व में भी प्राणमय अनबन**
**विश्वचेतस् बे-बनाव।**

मुक्तिबोध ने ब्रह्मराक्षस में एक बड़ी समस्या दिखाया है कि ब्रह्मराक्षस अपने ज्ञान का प्रयोग समाज के हित में नहीं कर पाता। वह समाज से कटकर अपने ही चेतन-अचेतन संघर्ष में उलझा रहा। ब्रह्मराक्षस का संघर्ष यही बताने के लिए है कि जो बुद्धिजीवी अपने सामाजिक उत्तरदायितव की पूर्ति नहीं करते उनकी नियति त्रासद होती है-

**वह कोठरी में किस तरह/अपना गणित करता रहा/औ मर गया।**

'मुक्तिबोध में न तो अस्तित्ववादी आत्मनिर्वासन है और न मार्क्सवादी। मुक्तिबोध में कोई ऐसी अस्मिता नहीं है, जो खो गई है और वे उसे खोज रहे हैं। वास्तविक समस्या वर्गान्तरण की है- अपने मध्यवर्गीय व्यक्तित्व को सर्वहारा वर्ग में अन्तरित करने की समस्या। मुक्तिबोध का मूल उद्देश्य वर्गहीन शोषण मुक्त समाज की स्थापना करना है। अकेले व्यक्ति

से अपेक्षित परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए यह समूहबद्ध प्रयास की मांग करता है। अपनी सार्थकता कोई मायने नहीं रखती।'[७]

**'फिर भी मैं अपनी सार्थकता में खिन्न हूँ**
**विष से अप्रसन्न हूँ**
**इसीलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए**
**पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए**
**वह मेहतर मैं हो नहीं पाता।'**

मेहत निम्न वर्गीय चेतना का भी प्रतीक है।

मुक्तिबोध सामाजिक और राजनैतिक क्रिया-कलापों से भी सजग रहते हैं। वे मानते हैं कि जिस कारण हमारा समाज समस्याग्रस्त है। उसकी शुरूआत बुजुर्गों ने की। यह भ्रष्टाचारियों एवं राजनीतिज्ञों पर एक करारा प्रहार है जो मुक्तिबोध की अपनी शैली है। मुक्तिबोध का जीवन निर्माण का दूसरा नाम है- ''जीवन में सघर्ष कवि मन की सिर्फ कलात्मक कसौटी नहीं वह इंसनी जज्बों की वही तस्वीर है जो पराजित होना नहीं जानती। यथार्थ की जीर्ण-शीर्ण सीढ़ियों पर भी पैर रखने की हिम्मत रखती है। समय से मुठभेड़ करते मुक्तिबोध अपने होने से अलग दूसरों से जुटे, जुड़े भी अनाम धड़कनों की विवशताओं और क्लिष्टताओं को कविता में जांचते-परखते हैं। साहित्यिक जीवन के खुरदरे यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए सार्थकता के प्रतिमानों से टकराते हैं।'[८]

**शहर के उस ओर खंडहर की तरफ**
**परित्यक्त सूनी बावड़ी, के भीतरी, ठंड अंधेरे में**
**बसी गहराइयां जल की, सीढ़िया डूबी अनेको,**
**उस पुराने घिरे पानी में, समझ में आ न सकता हो**
**कि जैसे बात का आधार, लेकिन बात गहरी हो।**

मुक्तिबोध 'ब्रह्मराक्षस' की अंतिम पंक्तियों में उसकी सामाजिक सरोकारों से मुक्ति करना चाहा है। परन्तु ब्रह्मराक्षस की मुक्ति योग्य शिष्य के माध्यम से ही हो सकती है। यदि कोई योग्य शिष्य ब्रह्मराक्षस का ज्ञान प्राप्त कर ले तो ब्रह्मराक्षस की मुक्ति हो सकती है। स्वयं मुक्तिबोध ब्रह्मराक्षस का शिष्य बनकर उसके अधूरे कार्य को समाज के हित में करने की प्रतिज्ञा लेते हैं-

**''मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य, होना चाहता**
**जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य, उसकी वेदना का श्रोत**
**संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक पहुँचा सकूँ।''**

'मुक्तिबोध में अँधेरे का चित्रण निराला काव्य में लम्बी अवधि तक फैले अंधकार की याद दिलाता है। दोनों कवियों में इस शब्द के तद्भव-तत्सम रूपों का अंतर उनकी अर्थ प्रकृति से उपजता है। निराला के अंधकार का प्राथमिक संकेत आध्यात्मिक स्तर पर है जबकि मुक्तिबोध में 'अंधेरे' का रूप सामाजिक सन्दर्भों से अधिक जुड़ा है।'[९]

**घुसती हैं लाल-लाल मशाल अजीब सी**
**अंतराल-विवर के तम में, लाल-लाल कुहरा**
**कुहरे में, सामने, रक्तालोक-स्नात पुरुष एक, रहस्य साक्षात्!**

यह सामाजिक जीवन का अँधेरा लगातार रूप बदलता रहता है और शायद इसलिए रहस्यपूर्ण भी है। मुक्तिबोध का मानना था कि जीवन की समस्याएँ जटिलतर होती चली जा रही है। अहंवादी मूल्यों एवं लूट-खसोट इत्यादि के बढ़ते प्रभाव को भी उनकी दृष्टि रेखांकित करती है। मुक्तिबोध के यहां वर्ग चेतन और व्यक्ति की स्वतंत्रता का विरोध नहीं है। 'मार्क्सवाद, साम्यवाद, एवं कलावाद आदि को लोग उनकी कविताओं में ढूढ़ते है' पर किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते। कहीं वह उनका खुद का व्यक्तित्त्व जान पड़ता है। और कहीं वे मजदूर और सर्वहारा वर्ग के प्रतीक के रूप में दिखते हैं। कहीं पर वह उनका संघर्ष है तो कहीं विश्व एवं समाज का तो कहीं मानवता का।'[१०]

मुक्तिबोध उन गिने-चुने साहित्यकारों में है जो अपनी रचनाओं की बदौलत जितने प्रासंगिक तब थे, उससे कहीं ज्यादा प्रासंगिक आज हैं उनकी प्रासंगिकता निरंतर बढती जा रही है और भविष्य में उनके कहीं अधिक प्रासंगिक बने रहने की भी संभावना बनी हुई है। अपनी रचनाओं में मुक्तिबोध जो सवाल उठाते हैं, जो प्रश्न करते हैं, वे आज भी अनुत्तरित हैं, जवाब की तलाश कर रहे है। रचनाकार की भविष्य को देख लेने की शक्ति उसे आगत समय में निरंतर प्रासंगिक कालजयी बनाए रखती है।

मुक्तिबोध को प्रायः दुरूह और जटिल कवि माना जाता है। इसकी वजह यह है कि उनके विचार टुकड़ों में सामने आते हैं, एक अंश यहां किसी एक रचना में- दूसरा अंश कही और किसी दूसरी रचना में। कई बार वे अपने मूल विचार से दूर प्रतीत होते हैं। वे मिथकीय संदर्भों और अधुनातन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को एक साथ अपनी रचना में पिरोते हैं, अपने कथ्य का उपकरण बनाते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' वह मिथकीय पात्र है जो कर्तव्यच्युत होने के कारण विभिन्न रूपों में मारा-मारा फिर रहा है। मुक्तिबोध इस मिथकीय प्रसंग के संदर्भ में स्थापित करते हैं कि मुक्ति उसे ही मिलेगी जो समाज को जो भी उससे लिया उसे चाहे जैसा भी जितना भी दुःख झेलना पड़े लौटाएगा। जो ऐसा नहीं करता उसकी मुक्ति संभव नहीं। उसे विभिन्न रूपों में 'ब्रह्मराक्षस' की भाँति भटकता रहेगा।

मुक्तिबोध निरंतर अन्वेषी बने रहते हैं और नए-नए बिम्बों का इस्तेमाल करते हैं। यह प्रयोगधर्मी, अन्वेषक दृष्टि उन्हें और उनकी कविता को जीवनकाल में निरंतर एकाकी करती गई, लेकिन इन सारे प्रयोग और अन्वेषिता का अभीष्ट एक ही था- मनुष्य और समाज की बेहतरी, उसके प्रति उत्तर दायित्व, उद्देश्यपरकता और गहरी मानवीय संवेदनीयता।

मुक्तिबोध की प्रासंगिकता तब और बढ़ जाती है जब शिल्पगत मूल्यांकन किया जाता है क्योंकि नई कविता के पारंपरिक शिल्प बोध और संरचना को सिर्फ न तोड़ा बल्कि उसका कायान्तरण कर दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से मनुष्य को स्थापित करने की कोशिश की। उन्हें मानवोचित अधिकार, जीवन और स्वतंत्रता प्रदान करने की वकालत की। वे उत्पीड़न, असुरक्षा और दुःख त्रास से मुक्त जीवन और समाज चाहते थे।

मुक्तिबोध की रचनाएँ पाठक को निरंतर सोचने के लिए उद्वेलित करती हैं। उनकी कविताओं में एक गहरी कसक और तीव्र वेदना तो है ही तीक्ष्ण संघर्ष और द्वंद की अद्वितीय और जीवंत स्थितियाँ भी मौजूद है। मुक्तिबोध अगर आज भी उतने ही प्रासंगिक है, तो इसके ठोस कारण उनकी रचनाशीलता के कालनिरपेक्ष तत्वों, उनकी परिवर्तनकामिकता, बेचैनी और अकुलाहट तथा परदुःखकातरता में निहित है। जिन विसंगतियों और विडंबनाओं पर उन्होंने चोट की, जिन विद्रूपताओं पर उन्होंने खिन्नता प्रकट की तथा जिन वंचनाओं और पीड़ाओं पर उन्होंने अफसोस जाहिर किया, वे आज पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है, और यह मुक्तिबोध की वर्तमान में प्रासंगिकता के तमाम कारणों में से एक प्रमुख कारण है।

मुक्तिबोध अपनी रचना की वजह से आज तक धमक बनाए हुए है। पाठक उनको पढ़ने, समझने और व्यक्त करने को लालायित है। वह गहनतम मानवीय संवेदना के कवि, कुशल कल्पनाशील कहानीकार, प्रखर पत्रकार, बेबाक, समीक्षक, दो टूक के वक्ता, ईमानदार डायरी लेखक, आत्मीय व भावुक पत्र लेखक होने के साथ-साथ उम्दा इंसान, गंभीर चिंतक और कालजयी समय के पारखी सृजनकार है। अपनी रचनाओं के माध्यम से वे समाज, जीवन और युग के जिस यथार्थ का साक्षात्कार करते हैं और जिसे अभिव्यक्त करते हैं, वह वस्तुतः जटिल और इतना उलझा हुआ और षड्यंत्रियों से पटा हुआ है कि उसे सीधे-सीधे पकड़ पाना या अभिव्यक्त कर पाना मुक्तिबोध के लिए स्वभावतः ही संभव नहीं था, बावजूद उन्होंने वह सब कर दिया जिसकी कल्पना भी नहीं की गई थी।

**वह ज्योति अनजानी सदा को सो गई**
**यह क्यों हुआ, क्यों यह हुआ!!**
**मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य, होना चाहता**
**जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य, उसकी वेदना का श्रोत,**

संगतपूर्ण निष्कर्षों तलक पहुँचा सकूँ।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. आजकल-नवम्बर २०१७, मुक्तिबोध जन्मशती पर विशेषांक, पृ० १२
२. हृदयेश मिश्र एवं शिवलोचन पाण्डेय-हिन्दी साहित्य का इतिहास, भारती भवन प्रकाशन, पृ० २०८
३. वही, पृ० २१०
४. आजकल-नवम्बर २०१७, मुक्तिबोध जन्मशती पर विशेषांक, पृ० १६
५. रेवती रमण- महाकाव्य की मुक्ति- अभिव्यक्ति प्रकाशन, पृ० ३५
६. वही, पृ० ३७
७. बच्चन सिंह-आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहस, पृ० २८१
८. आजकल-नवम्बर २०१७, पृ० १३
९. रामस्वरूप चतुर्वेदी- नयी कताएँः एक साक्ष्य, लोकभारती प्रकाशन, पृ०२८१
१० आजकल-नवम्बर २०१७, पृ० १४
११. आजकल-नवम्बर २०१७, मुक्तिबोध जन्मशती पर विशेषांक, (मुक्तिबोध की प्रासंगिकता के सन्दर्भ में विशेष आभार मुख्य तथ्य का संकलन)



**शोधार्थी**
**(हिन्दी-विभाग)**
**प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या)**
**विश्वविद्यालय, प्रयागराज**
**मो०नं०-८३१८३४६३७९**

# परम्परा भंजक कवि अज्ञेय

–सुदेश कुमार

हमारी खुशनुमा जिन्दगी में जैसे सप्तरंगी इन्द्रधनुष का एक विशेष महत्त्व होता है उसी तरह अज्ञेय की रचनाओं के हसीन रंग भी अनन्त हैं। हम अपनी जिन्दगी को जितने रंगों में खुलकर जी सकते हैं अज्ञेय को उससे कहीं अधिक रंगों में वर्णित किया जा सकता है। अज्ञेय की रचनाओं का आवरण इतना नायाब है कि जिन्दगी के बदलते हुए हर रंग उसमें घुल जाने को बेताब हैं और जब यह रंग उसके आवरण में पूर्ण रूप से समाहित हो जाते हैं तो उसकी छवि में चार चाँद लगा देते हैं। इसीलिए साहित्य जगत में एक लम्बी दूरी तय करने के पश्चात् आज भी अज्ञेय और उनकी रचनाएँ नवीन हैं, खूबसूरत हैं और आकर्षक भी।

अज्ञेय हिन्दी के ऐसे महान् कवि हैं जिनकी जड़ें हिन्दी कविता जगत् के अन्तःतल में समाई हुई हैं। अज्ञेय की प्रथम रचना १९२७ ई० में प्रकाशित हुई। उसके पश्चात् लगभग पाँच दशकों तक उनकी यह अटूट यात्रा चलती रही। अज्ञेय की समस्त कविताओं के पश्चात् कुल तेरह संग्रह प्रकाशित हुए हैं। शुरूआत से ही अज्ञेय की कविता विवाद का मुख्य विषय रही है। इसका कारण यही है कि जब कोई व्यक्ति परम्परा को तोड़ कर कुछ नया करने, कुछ नवीन सृजन करने के एक नयी भावभूमि को लेकर आता है तो इसका विरोध यह समाज अवश्य करता है और अज्ञेय को भी यह मानसिक प्रताड़ना झेलती पड़ी।

'तारसप्तक' ही वह बिन्दु है जहाँ अज्ञेय कविताओं के माध्यम से एक नये ढंग, नयी भाषी और एक नयी परम्परा की शुरूवात करते हैं और उन्होंने हिन्दी कविता को एक नया मोड़ दिया। इस विरोध परम्परा में हिन्दी के अनेक मूर्धन्यय विद्वान् भी थे जिन्होंने उनकी कविताओं का विरोध किया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को भी लगा कि **''ये रचनाएँ पश्चिम से आ रही हैं.....। ऐसी कविताएँ हिन्दी में नैसर्गिक प्रक्रिया का परिणाम नहीं कही जा सकती।''**

अज्ञेय के साहित्य और उनके विचारों को समझने के लिए हमें सबसे पहले अतिवादी विचाधाराओं से दूर रहने की आवश्यकता है जो किसी कवि के कविकर्म को एक पक्षीय दृष्टि से देखते हैं। कोई भी रचनाकार सर्वांगीण एवं स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को केन्द्र में रखकर रचना का निर्माण करना यह उसका रचनाकर्म होता है। किसी साहित्य की रचनाओं को वैचारिक

कटघरे या किसी विचारधारा में बाँधा नहीं जा सकता है। इसलिए अज्ञेय किसी भी विचारधारा से जुड़े हुए नहीं थे और उनके साहित्य में जो चिन्तन है वह भी विविधतापूर्ण है। जीवन, समकालीन जीवन, व्यक्ति, समाज, राजनीति, कला, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, भाषा और शब्द-चेतना, छन्द और शिल्प आदि के सन्दर्भ में उन्होंने मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है।

अज्ञेय साहित्य में किसी वाद की प्रवृत्ति को अपनाते नहीं हैं। तारसप्तक की भूमिका में उन्होंने यही बात कही है जिससे यह स्पष्ट रूप से पता चला है, **''हम किसी स्कूल या गुट के नहीं हैं। हम राहों के अन्वेषी हैं।''**[१] लेकिन धीरे-धीरे लोगों ने प्रयोग को एक नये वाद से जोड़कर उसे प्रयोगवाद रूपी संज्ञा देने लगे तब उन्होंने उसके विरोध में अपने ही वक्तव्य में कहा था कि **''प्रयोग कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे हैं न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साधन हो सकता है। हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।''**[२]

छायावादोत्तर युग में कोई रचनाकार शायद ही ऐसा रहा हो जो अज्ञेय जितना विद्रोही स्वभाव लेकर आया हो। साहित्य, संस्कृति, परम्परा, काव्यभाषा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, आधुनिकता या आधुनिक भाव-बोध आदि के सम्बन्ध में जो हमारी पारम्परिक अवधाणाओं को तोड़ना उनके स्वभाव का अंग रहा है। उन्होंने परम्परागत मूल्यों को तो विध्वंस कियया साथ ही साथ नये मूल्यों को भी विकसित करने वाली एक बृहत दृष्टि अपनायी। इस प्रकार हिन्दी के किसी भी रचनाकार को इतनी बहसें नहीं उठानी पड़ी, जितनी अज्ञेय को उठानी पड़ी। उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित सभी सप्तकों की भूमिकाओं में साहित्यिक चिन्तन के रूढ़िवाद और छायावादी संस्कारों पर आघात करते हुए एक नये काव्य-चिन्तन को प्रतिष्ठित किया।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' को किसी परम्परा के पीछे चलना कभी स्वीकार नहीं था। प्रयोगवाद के शुरूवात में ही उनमें परम्परा के प्रति विद्रोह एवं प्रयोग के प्रति सहृदय भाव दिखायी देता है। अज्ञेय ने समकालीन रचनाकारों को भी परम्परा से हटकर एक नयी धारा के रूप में चलने का सुझाव दिया। वे कठिन समय में भी एकान्त निश्चिन्त रहने की सलाह देते हैं और उसी को अपनी कविता के माध्यम से कहते हैं-

**''बीहड़ में अकेले में भी निश्चिन्त रहो**
**स्थिर जानो**
**अरे यही तो सीधी क्या, एकमात्र राह है।''**[४]

तथा अपनी अन्य कविता में खुद को परम्परा से स्वतन्त्र होने की घोषणा करते हुए लिखते हैं-

**"मेरा आग्रह भी नहीं रहा, मैं चलूँ उसी पर**
**सदा जिसे पथ कहा गया, जो**
**इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा कि उस पर**
**कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी।"**[५]

वर्तमान युग और हमारा परिवेश बदल रहा है उसमें कवि की सृजनात्मकता उसकी मुख्य समस्या है, क्योंकि वर्तमान समय मे ंकवि परिवेश मेां काफी परिवर्तन हुआ है और उसे अधिक विस्तार मिला है और यह परिवेश कवि को एक नया संस्कार देता है। कवि का संसार मात्र उसके व्यक्तिगत अनुभव का ही संसार नहीं होता है वरन् उसमें अध्यात्मिक, सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभव का मिश्रण होता है। जो कवि को रचनाकर्म के लिए एक वृहद भूमि प्रदान करती है। अज्ञेय मुख्य रूप से कविता की पुरानी भावभूमि को जो रीतिवादी या छायावादी काव्य से प्रभावित थी उसको परिवर्तित करके एक नयी धरा देने का प्रयास करते हैं। उन्होंने जिस प्रकार अपने काव्य में शिल्पगत परिवर्तन किये हैं उसी प्रकार से भावगत परिवर्तन का प्रयास किया है। अज्ञेय के ये दोनों परिवर्तन जो कविता को परम्परा से हटाकर एक नवीन धरातल देने का प्रयास करते हैं।

तत्कालीन समय में जो परिवेश में परिवर्तन हो रहा था वह अज्ञेय की तमाम कविताओं में उससे उत्पन्न समस्याएँ और उनसे छुटकारा पाने का संघर्ष दिखायी देता है और यही उनकी आधुनिक भाव-बोध की दृष्टि है जिसमें इस समाज के अन्तर्द्वन्द्वों को स्पष्ट रूप से पहचानती है। इसके पश्चात् उन अन्तर्द्वन्द्वों के साथ अज्ञेय ने नये प्रयोग करके अपनी प्रयोगधर्मी दृष्टि का परिचय प्रस्तुत किया। उनकी कविताओं में अनेक जगह एक नये परिवेश के साथ उनकी आधुनिक दृष्टिकोण की टकराहट देखने को मिलती है। उनका तत्कालीन परिवेश के साथ यह प्रयोग आधुनिक हिन्दी कविता को एक नयी दिशा प्रदान करती है। इस बदलते परिवेश में पुरानी रूढ़ियों, परम्पराओं और मान्यताएँ जो वास्तव में रूढ़ि हो चुकी है जिसमें नये भाव एवं शिल्पगत प्रयोगों की अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रयोगवादी कविता में वस्तु और रूप के स्तर पर एक नयापन सामने आता है। अज्ञेय अपनी कविता 'कलगी बाजरे की' में इसी नयेपन की बात करते हैं। अज्ञेय ढर्रे पर चली आ रही कविता को एक नया मोड़ देते हैं जो परम्परा को तोड़ते हुए एक नयी भाषा और नये भाव को अपनाती है।

**"अगर मैं तुम को ललती साँझ के नभ की अकेली तारिका**
**अब नहीं कहता,**
**या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुंई,**
**टटकी कली चम्पे की, वगैरह, तो**

**नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है**
**या कि मेरा पर मैला है।**
**बल्कि केवल यही : ये उपमान मैले हो गये हैं।**
**देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।**
**कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।''**[६]

अज्ञेय ने सन् १९४३ में तारसप्तक के प्रकाशन के पश्चात् उसके माध्यम से हिन्दी कविता को एक नया रास्ता दिखाया। किसी रचनाकार की सबसे जरूरी चीज जो होती है उसकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति और अज्ञेय उन्हीं रचनाकारों में थे जो स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त विचारों के माध्यम से अपने भावों को स्वर देते थे। इसलिए अज्ञेय को किसी वाद और विचारधारा से बाँध कर नहीं देखा जा सकता है। अज्ञेय नये-नये प्रयोगों के माध्यम से अपनी दृष्टि को और अधिक धारदार बनाते रहते थे और इन नवीन प्रयोगों से सृजित प्रक्रिया को और विकसित करने के लिए अज्ञेय परम्परा से आधुनिकता तक का सफर तय करते हैं। अज्ञेय प्रयोग का सहारा परम्परा के तत्त्वों को एक नये रूप, नये सन्दर्भ में ढालने के लिए करते हैं। परम्परा के सन्दर्भ में अज्ञेय कहते हैं कि, **''कोई ऐसी पोटली बाँधकर रखी हुई चीज नहीं है, जिसे उठाकर सर पर लाद ले और चल निकले। परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है, जब तक उसे ठोक-बजाकर, तोड़-मरोड़कर देखकर आत्मसात नहीं कर लेता।''**[७]

अज्ञेय ने अपने लेखन में उसी वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर अनेक परिवर्तन किये हैं। अज्ञेय मूलतः आधुनिक कवि हैं इसलिए अज्ञेय की सृजन प्रक्रिया में परम्परा कई जगह समस्या के रूप में सामने आती है परन्तु इस समस्या के समाधान हेतु अज्ञेय परम्परा के मूल को वर्तमान स्थिति में परिवर्तित कर अपनी कविताओं को एक नये ढंग से प्रस्तुत करते हैं। अज्ञेय परम्परा को वरदान तो मानते हैं परन्तु वह वरदान शापमय है और वे कहते हैं, **''साहित्यकार को कला की, साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति से, साहित्यिक परम्परा की निरन्तर विकासशील, प्रवाहमानता से परिचित होना ही होगा। अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्तमान के विकास की भी परम्परा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी ही होगी।.... अचिर के साथ चिर के तारतम्य की यही बाध्यता, अचिर की माला में गुँथ जाने के चिर का अधिकार, साहित्यकार के रूढ़ि अथवा परम्परा का यही ''शापमय वरदान' है।''**[८] **परम्परा को हमारे वर्तमान जीवन में सार्थक बनाने के लिए प्रयोग को अज्ञेय साधन के रूप में मानते हैं।**

**हमारी परम्परा काफी लम्बे समय से चलती आ रही है जिसके कारण वह रूढ़**

**हो चुकी है जिसको अज्ञेय एक नयी दिशा और नया प्रवाह देना चाहते हैं। विकास के इस बढ़ते क्रम में वे परम्परा रूपी भूमि की सुसंगठित व्यवस्था एवं मरम्मत करके उसे आधुनिकता के नये सन्दर्भों के योग्य उपजाऊ बनाने का प्रयास करते हैं। और कहते हैं–**

**"सब खेतों में**
**लीकें पड़ी हुई हैं**
**(डाल गये हैं लोग)**
**जिन्हें गोड़ता है समाज**
**उन लीकों की पूजा होती है।"**[८]

उपर्युक्त कविता में जिस लीक की बात कर रहे हैं वो परम्परा रूपी लीक है जो काफी समय से लोक उस पर बिना किसी परिवर्तन के चलते जा रहे हैं उसमें परिवर्तन करना भी उचित नहीं समझते हैं। अज्ञेय इस परम्परा को ज्यों-का-त्यों न अपनाकर उसमें कुछ परिवर्तन कर नवीन रूप में अपनाने के पक्ष में हैं। परम्परा के प्रति उन्होंने हमेशा प्रयोगशील दृष्टि को अपनाया है। अज्ञेय जी परम्परा की लीक पर चलने के पक्ष में कम ही थे वे समय-समय पर परम्परा की जाँच-परख कर एक ईमानदार बौद्धिक पहल के पक्ष में थे। कई बार परम्परा हमें केवल परम्परावादी रूढ़ि के हिस्सा का अंग बना देती है जो हम अपने आने वाले समाज को सौंपते रहते हैं। जो हमें नवीन विचार और भावों से काटकर जड़ बना देती है और यही जड़ता हमें हमारी पररम्रा की लीक पर चलने को मजबूर करती है।

अपितु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अज्ञेय पूर्णतया परम्परा के अलग हटकर रचना के समर्थक रहे हैं। किसी देश की संस्कृति और उसकी परम्परा समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है। उन्होंने अपने विचारों में यह भी स्पष्ट किया है कि वे भारतीय संस्कृति में आसक्त होने की बात करते हैं और विश्व समुदाय को देखखर वे कहते हैं, **"विश्व संस्कृति, विश्वमानव अथवा विश्वनागरिक का आदर्श, भारतीय परम्परा में भी रहा है।"**[९] जो भाषा हमें अपनी परम्परा से प्राप्त हुई है अज्ञेय उस परम्परा के प्रति प्रेम को दर्शाते हुए कहते हैं कि, **"यह कहने के लिए कि हम परम्परा मुक्त हैं, भाषा उपयोग करना कितनी बड़ी विडम्बना है। भाषा हमारी सबसे पुरानी, सबसे बड़ी सांस्कृतिक रूढ़ि है, अपने दावे के लिए उसका सहारा लेना और दावे का सहारा अनिवार्य है, सिद्ध कर देता है कि दावा बेमानी है।"**[१०]

अज्ञेय ने भाषा, भाव और विचार की दृष्टि से अपने ऊपर लगे परम्परा विद्रोह के इस आरोप का समाधान कर देते हैं और यह सत्य भी है कि हम परम्परा से पूर्णतः अलग होकर

जी नहीं सकते हैं तो किसी रचना का आना तो मात्र कल्पना मात्र ही रह जायेगा। हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी पहचान है कि उन विभिन्न प्रभावों को धारण करते रहना जो हमारी संस्कृति को शीर्ष तक लेकर जाये फिर चाहे वो देशी यो हा विदेशी। इसी सम्बन्ध में अज्ञेय लिखते हैं कि, **"तटस्थ होकर नयी स्थिति की छाप ग्रहण करें, मिटे नहीं, नये संस्कारी हों, यदि यह नहीं होना, तो हम आधुनिक नहीं हैं।"**[१२]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हमें आधुनिक होने के जो सबसे जरूरी चीज हैं वो है अपनी परम्परा का नवीन मूल्यांकन। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय परम्परा के लगातार प्रवाह में से जाो समकालीन युग के अनुकूल तथ्य को स्वीकार करने के पक्षधर थे। उपर्युक्त मतों से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग के कवियों के लिए काव्य-तत्त्व की खोज करना, उन्हें अनेक दिशाओं में लेकर जाता है। इसलिए कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह परम्परा से काफी दूर पहुँच गये हैं, परन्तु ऐसी बात नहीं है-

**"यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ**
**काव्यतत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ।"**[१३]

अज्ञेय ने ज्ञानपीठ पुरस्कार के अवसर आयोजित सभा समारोह पर अपने वक्तव्य में भी कहते हैं कि लेखक परम्परा को तोड़ता है जिस प्रकार भूमि को तोड़ता है। मैंने उचित या मुग्धभाव से नहीं लिखा है कि जब परम्परा तोड़ी है तब यह जाना है कि परम्परा तोड़ने के मेरे निर्णय का प्रभाव आने वाली पीढ़ियों पर भी पड़ेगा। इस प्रकार उन्होंने परम्परा भंजक कहे जाने के आरोप को भी साधार रूप में प्रस्तुत करते हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. वाजपेयी नन्ददुलारे, नयी कविता और अज्ञेय : हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी-नन्ददुलारे, पृ० २४८
२. सम्पादक अज्ञेय, तारसप्तक, पृ० ५
३. सम्पादक- अज्ञेय, दूसरा तारसप्तक, प्रतीक प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० ६
४. अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० २५
५. अज्ञेय, इन्द्रधनुष रौंदे हुए थे, पृ० ३६
६. विद्यानिवास मिश्र, रमेशचन्द्र शाह, अज्ञेय काव्य-स्तब्क, साहित्य अकादमी, पृ० १४२
७. अज्ञेय, दूसरा तारसप्तक, प्रतीक प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० ७
८. अज्ञेय, त्रिशंकु, सरस्वती प्रेस, बनारस, पृ० ३७
९. अज्ञेय, नदी की बांक पर छाया, राजपाल एण्ड संस, पृ० ६

१०. अज्ञेय, आलवाल, पृ० ४५
११. अज्ञेय, भवन्ती, पृ० २५
१२. अज्ञेय, लिखि कागद कोरे, पृ० ७०
१३. अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० २१

**-शोधार्थी**
**दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**
**मो०: ७४६६१४७४४२**

# वैश्विक दुनियाँ में आदिवासी भाषा और संस्कृति

–सचिन टोप्नो

वर्तमान समय वैश्वीकरण का है। आज प्रत्येक व्यक्ति अपने सपनों को अवश्य पूरा करना चाहता है।वैश्वीकरण के प्रतिरोध में आदिवासी साहित्य की अनुगूंज को भी हम समझने और जानने की कोशिश करते हैं, और आगे भी करते रहेंगे। जिसके लिए सबसे पहले हमें आदिवासी भाषा और उसकी को संस्कृति को बचाना होगा। वैश्वीकरण का शाब्दिक अर्थ 'स्थानीय वस्तुओं या घटनाओं के विश्व स्तर पर रूपांतरण की प्रक्रिया है।' इसे एक ऐसी प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है, जिसके द्वारा पूरे विश्व के लोग मिलकर एक समाज बनाते हैंय तथा एक साथ कार्य करते हैं। यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और राजनीतिक ताकतों का एक संयोजक है।

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ' नोम चोम्स्की' का मानना है कि "वैश्वीकरण का अर्थ अंतरराष्ट्रीय एकीकरण है।"इस एकीकरण में भाषा की अहम भूमिका होगी और जो भाषा व्यापक रूप से प्रयोग में रहेगी उसी का स्थान विश्व में सुनिश्चित होगा। इसमें कोई शक नहीं कि वैश्वीकरण ने शहरी जीवन स्तर में सुधार किया और उसे ऊंचा उठाया है।लेकिन हाल ही में भूमंडलीकरण के विरोध में आवाज उठाई जा रही है। जो समाज के ऐसे वर्ग से आती है, जो तथाकथित पिछड़े और मूल समाज का हिस्सा नहीं है। इनकी आवाज में ऐसी समस्या की पीड़ा है, जिसने समाज के बुद्धिजीवियों को आवाज में आवाज मिलने को विवश कर दिया है। वर्तमान समय ग्लोबल वार्मिंग एक ऐसा ज्वलंत विषय है। जिसकी चर्चा विश्व भर में की जा रही है, किंतु कोई ठोस रास्ता नहीं निकल पा रहा है। इसकी एकमात्र वजह है- प्रकृति का अंधा धुंध दोहन। कोई भी अपनी सुविधाओं से समझौता करने के लिए तैयार नहीं है, किंतु आदिवासी तटस्थ रूप से केवल पर्यावरण के विषय में ही सोचता है।

वैश्वीकरण के इस वर्तमान समय में मनुष्यों ने विकास के नित नए आयाम प्रस्तुत किए हैं। तकनीकी विकास की इस क्रांति ने विभिन्न देशों में वैश्विक परिदृश्य प्रदान करते हुए, उन्हें एक गांव में परिवर्तित कर दिया है। विश्व की अलग-अलग सभ्यता संस्कृति एवं भाषागत विविधताओं को दरकिनार करते हुए 'वैश्विक गांव' के निर्माण की करतल ध्वनि जगत में गुंजायमान हो रही है। वैश्विक स्तर पर और भारत में आदिवासी समुदायों की अपनी एक

विशेष भाषा है। जिसे भाषा विज्ञानियों ने आदिवासी भाषा को एक अलग पहचान के रूप में प्रस्तुत किया है। जो समाज से दूर-दूर तक कोई संबंध या उस वर्ग विशेष से कोई संबंध स्थापित नहीं करता है, और हर स्तर से, हर सुविधाओं से वंचित है। वह हमारा आदिवासी परिवार है। जिसे भाषा वैज्ञानिकों ने उनकी भाषाओं को मुख्य रूप से तीन भाषा परिवारों में विभाजित किया है- जिनमें द्रविड़, एस्ट्रो- एशियाई और चीनी तिब्बती।

आदिवासी भाषाओं में संथाली बोलने वालों की संख्या अधिक है, जबकि गोंडी दूसरी सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा है। भारत की २२ भाषाओं को ही संविधान में मान्यता प्राप्त है। जिसे आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। इनमें शामिल की गई ' बोडो और संथाली' ही आदिवासी भाषाएं हैं। भारत में मात्र एक राज्य झारखंड में ही छह आदिवासी भाषाओं संथाली, मुंडारी, हो, भूमिज, कुडुख और खड़िया को द्वितीय राजभाषा का दर्जा प्राप्त है। भाषिक दृष्टिकोण से भारत में आदिवासी भाषाओं के भाषायी परिवार-

- **एस्ट्रो-एशियाई परिवार**-भारत का एक प्राचीन भाषा परिवार है। इस परिवार की भाषा को कोल या मुंडा भाषा भी कहा जाता है। यह दक्षिण- पूर्वी एशिया के उपमहाद्वीप से लेकर प्रशांत महासागर के छोटे बड़े द्वीपों को समझते हुए आस्ट्रेलिया तक एक ही परिवार की भाषा बोली जाती है। आदिवासी भाषा परिवार मुख्यतः झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल के ज्यादातर भाग में बोली जाती है। संख्या के दृष्टिकोण से इस परिवार की सबसे बड़ी भाषा संथाली है। अन्य भाषाओं में हो, मुंडारी, भूमिज, खड़िया, सावरा, आदिवासी भाषाएं हैं।
- **चीनी-तिब्बती परिवार**- इस परिवार की अधिकतर भाषाएं भारत के उत्तर-पूर्वी राज्यों में बोली जाती हैं। जिनमें नगा, मिजो, म्हारा, मणिपुरी, तांगखुला, खासी, दफला, आओ, प्रमुख आदिवासी भाषाएं हैं।
- **द्रविड़ परिवार**- यह भाषा परिवार भारत का दूसरा सबसे बड़ा भाषायी परिवार है। इस परिवार की सदस्य गैर-आदिवासी भाषाएं अधिकतर दक्षिण भारत में बोली जाती हैं, जिनमें तमिल, कन्नड़, मलयालम और तेलुगू भाषाएं हैं, किंतु द्रविड़ परिवार की आदिवासी भाषाएं पूर्वी, मध्य और दक्षिण तक के राज्यों में बोली जाती है। गोंडी, कुडुख और मल्तो, द्रविड़ परिवार की प्रमुख आदिवासी भाषाएं हैं।
- आंगे और जारवा , अंडमान- निकोबार द्वीप समूह की आदिवासी भाषाएं हैं। जनसंख्या के दृष्टिकोण से यह भारत का सबसे छोटा आदिवासी भाषायी परिवार है। आदिवासी संस्कृति भारतीय उपमहाद्वीप एवं दक्षिण अफ्रीका में निवास करने

वाले आदिवासी जातियां उन्हीं की संतान हैं। जिन्होंने आर्यों के प्रादुर्भाव से पहले मानव की आदिम सभ्यता का विकास किया था। चंदा समिति ने १९६० में अनुसूचित जातियों के अंतर्गत किसी भी जाति को शामिल करने के लिए पांच मापदंड निर्धारित किए थे जो इस प्रकार हैं जिनमे विशिष्ट संस्कृति,पिछड़ापन, भौगोलिक एकाकीपन, संकुचित स्वभाव एवं आदिम जातिगत लक्षण आदि।

प्रकृति के निकट होने से यह आदिवासी प्रकृति प्रेमी है। आदिवासियों में लोक कथाओं, गीतों, कहावतें और मुहावरों की मौखिक परंपरा रही है। जिसे 'पुरखा साहित्य' का नाम दिया गया है। शहरी और ग्रामीण समाजों में हमें मनुष्य की वर्तमान स्थिति एवं विकास के भौतिक आयाम का पता चलता है, वहीं आदिम समाज किस प्रकार सरलता से प्रकृति की गोद में नैसर्गिक रूप से जीवन यापन कर अपना समय पूरा करता है। शहरी समाज सभ्यता के मकड़जाल में उलझ कर अपने नैसर्गिक लक्ष्यों को भूल गया है। सामाजिक व्यवहार, रीति-रिवाज एवं भौतिकता में अपने आप को इतना उलझा दिया है, कि उसका अपना संतोष कहीं खो सा- गया प्रतीत होता है।

आदिवासी समाज का किस प्रकार आधुनिक समाज या तथाकथित शहरी समाज के साथ सामंजस्य बिठाया जाए कि ये अपने सामाजिक परिवेश एवं संस्कृति को निरंतर बनाए रख सके, एवं विकास यात्रा में भागीदार बनकर उसका लाभ भी उठा सके, समस्याएं और भी हैं यदि उन्हें अर्थात आदिवासी समाज को एकाकी छोड़ दिया जाए, तो क्या यह राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की दिशा में न्यायोचित होगा और यदि उन्हें आधुनिक समाज के साथ लाया जाए तो क्या इनका पृथक अस्तित्व एवं संस्कृति बची रह सकेगी। भारत सरकार एवं राज्यों द्वारा आदिवासी समाज के कल्याण एवं विकास हेतु चलाए गए कई कार्यक्रमों के बावजूद आज भी आदिवासी अंचल में इनका शोषण जारी है। जल, जंगल, जमीन, छिन जाने से कई आदिवासी समूह आज उत्पीड़न एवं बंधुवा मजदूर का अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर हैं। इनके वनों पर शहरी वणिक वर्ग की पैनी नजर है। जो इन्हें अपने ही घर में पराश्रित बना रही है। आदिवासियों में नशाखोरी की प्रवृत्ति भी उन्हें साहूकारों के ऋण जाल में फंसा देती है। जो उन्हें उम्र भर उनके दुश्चक्रों में फंसा कर रख देती है। वन उपज कृषि एवं पशुपालन ही आदिवासी समाज का जीवन आधार है सरकारों द्वारा इसी को ध्यान में रखकर नीतियों में आमूल चूल परिवर्तन करना होगा एवं ऐसी नीतियां व कार्यक्रम बनाने होंगे जिससे कि न केवल पारंपरिक निर्वाह अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन सके अभी तो विकास प्रक्रिया में भागीदार बनकर अपने राष्ट्र के उत्थान के साथ ही अपनी भागीदारी निभा सकें सरकारी तौर पर आदिवासी स्थानक क्षमता अनुरूप समग्र कार्य योजना बनाकर उसका क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाना

चाहिए सरकारी तंत्र को भी केंद्रीकृत व्यवस्था के आधार पर संचालित करना वित्तीय समावेशन को प्रभावित के आधार पर प्रचारित करना जन सहभागिता को सुनिश्चित कर आदिवासी समाज में विश्वास जागृत कर उनका विकास करके राष्ट्र की मुख्य धारा में सम्मिलित करना चाहिए इस कार्य में निजी भागीदारी को इस प्रकार से सुनिश्चित किया जाए कि इस वर्ग का शोषण ना हो गैर सरकारी संगठनों द्वारा जागरूकता बढ़ाने सहकारी तंत्र या संगठन को प्रोत्साहित करके वैश्वीकरण के सकारात्मक लबों को आदिवासियों तक पहुंचना आवश्यक है। आदिवासी समाज के लोकगीत, लोक कथाएं, लोक भाषा, शब्द भंडार इत्यादि आदिवासी साहित्य के शक्ति स्थल भी हैं, और प्रेरणा स्रोत भी। इस बदलते परिवेश में आदिवासियों के संस्कृति में परिवर्तन हुआ है। वह बीती हुई दास्तान से ऊपर जाकर जीना सीख रहे हैं। आदिवासियों ने शंखनाद के साथ साहित्य की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास किया। जिसे हम समकालीन साहित्य के रूप में आत्मसात कर रहे हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास एवं लेखों में आदिवासियों के रीति- रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा एवं संपूर्ण जीवन का सजीव चित्रण करते हैं। आदिवासी साहित्य के उत्तरोत्तर विकास की राह में कई चुनौतियां हैं। जिनमें रचनाशीलता के पहले चरण में ही लेखकों को जूझना पड़ रहा है। विकास की आधुनिक व्यवस्था और वैश्वीकरण से उत्पन्न नए खतरे अपनी जगह पर तो हैं ही। यह अफसोस जनक है कि भाषा, साहित्य वैश्वीकरण के इस दौर में बाजार में पहलू में बैठी राजनीति व्यवस्था की दया दृष्टि पर निर्भर हो गई है। बाजारीकरण के समय आदिवासी भाषा, संस्कृति, साहित्य उनकी वेश-भूषा, रहन-सहन आदि को सुरक्षित रखने का संकट विद्यमान है। आदिवासी भाषाओं की अस्मिता और उनसे जुड़ी उनकी सांस्कृतिक अस्मिता के सवाल पर आज के समय में एक सावधान विमर्श की आवश्यकता है, जो उपलब्ध इतिहास है वह निश्चित रूप से औपनिवेशिक इतिहास है। वैश्वीकरण के भार से आदिवासी भाषा व संस्कृति को सुरक्षित रखने का एकमात्र साधन उनका साहित्य है। साहित्य के द्वारा ही वह अपने अस्तित्व व अस्मिता को बचाए रख सकते हैं। आदिवासी इतिहास लेखन में व्याप्त रहने, मौन और अंतरालों को उनकी चेतना द्वारा ही संजोया जा सकता है। आदिवासी भाषाओं, साहित्य, अस्मिता, दिशा, राष्ट्रीयता और संस्कृति का सही खाका ये लोकराज ही तय कर सकते हैं। इन्हें सुरक्षित रखना ही आदिवासी संस्कृति की सबसे बड़ी चुनौती है।

विज्ञान एवं तकनीकी विकास, सूचना क्रांति, प्रशासनिक चुस्ती, सरकारी प्रतिबद्धता, विकेंद्रित विकास, जन सहभागिता के द्वारा वैश्वीकरण के आर्थिक समृद्धि, समग्र विकास व वैश्विक गांव के वास्तविक लक्ष्य को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। जिससे आदिवासियों की स्थिति और उनकी संस्कृति को बचाया जा सके।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. भारतीय समाज मुद्दे और समस्याएं- वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, २०१८
२. आदिवासी साहित्य विमर्श- गंगा सहाय मीणा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड , नई दिल्ली २०१४
३. भील जनजाति, शिक्षा और आधुनिकीकरण- अजय सिंह राठौर, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, १९९८
४. भारत में सामाजिक परिवर्तन- ओम प्रकाश जोशी, रिसर्च पब्लिकेशंस, जयपुर, २०१७
५. आदिवासी दुनिया- नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, २०१३
६. जनजातीय समाज का समाजशास्त्र- कमलेश महाजन, धर्मवीर महाजन, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली , २००५
७. जनजातियों का सामाजिक-आर्थिक उत्थान- मंजू गुप्ता, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली, २०११



**-असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी-विभाग)**
**गोस्सनर कॉलेज, राँची (झारखण्ड)**


⊙

# वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महादेवी वर्मा के संस्मरण साहित्य की प्रासंगिकता

–आभा सिंह

संस्मरण मूलतः अतीत एवं वर्तमान के बीच का सेतु है। यह एक तरफ स्मरणीय को आलोकित करता है, तो दूसरी तरफ संस्मरणकार को भी स्वमूल्यांकन का अवसर देता है। संस्मरण के बीज जिन्दगी को पुर्नसृजित करने की आंतरिक आकांक्षा में निहित होते हैं; अतः सम्बन्धों की आत्मीयता एवं स्मृति की परस्परता ही संस्मरण की रचना प्रक्रिया का मूलाधार है। संस्मरण लेखक की भावनाओं की पुष्टि होने के बाद भी चरित नायकों के जीवनादर्शों, संघर्षों उनकी नैतिक अवधारणाओं और निष्ठाओं को पाठकों के बीच पहुँचाकर उनके जीवन को गतिमान और संस्कारित बनाते हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि बौद्धिक चेतना और भाषा का वैशिष्ट्य पाकर भी मनुष्य निरपेक्ष और सर्वथा-स्वायत्त सत्ता नहीं है; उसका अस्तित्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या परिवेश के बीच ही है। इसीलिए भारतीय जीवन दर्शन को प्रतिपादित करने वाले हमारे सभी आर्ष ग्रन्थों में प्रकृति की सत्ता को सर्वोच्च और उत्कृष्ट माना गया है। मनुष्य उसी चराचर सत्ता का एक अंग है।

**''वसुधैव कुटुम्बकम्''** जैसी उक्ति जो हमारे चिन्तन के मूल स्रोतों का भाव केवल सम्पूर्ण विश्व के मनुष्य जाति में पारिवाररिक साहचर्य या बन्धुत्व भाव ही नहीं अपितु उससे भी आगे पृथ्वी के समस्त प्रकृति पदार्थों, मनुष्य पशु-पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, नदी, झरने, पहाड़ आदि समस्त तत्वों से है; वसुधा मात्र में जो भी विद्यमान है उसमें परमसत्ता का अस्तित्व है। मनुष्य समाज की संरचना केवल मनुष्य जाति समूह से नहीं हो सकती, उसके समाज में वृहत्तर इकाई पर्यावरण, परिस्थिति और पारिस्थितिकी, आदि तत्त्व अंगीभूत है। साहित्य की संवेदना का एक प्रमुख घटक मनुष्येत्तर जगत भी रहा है, किन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह धीरे-धीरे हाशिए पर चला गया है।

## महादेवी वर्मा-संस्मरण साहित्य

'आधुनिक युग की मीरा', 'महाश्वेता', 'वीणापाणि' एवं 'सेल्फ कन्ज्युमिंग लैम्प' जैसे उपनामों से विभूषित छायावाद की लघुत्रयी एवं चतुष्टयी में स्थान रखने वाली, कवियत्री के साथ-साथ प्रसिद्ध 'संस्मरणकार' के रूपमें हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध रहीं।

इनके संस्मरणों में 'सामान्य जनों' के स्मृतियों से लेकर साहित्यकारों की स्मृतियों के साथ-साथ मानवेत्तर पात्रों की स्मृतियों को सजीव किया गया है, जो कि वर्तमान सन्दर्भ में नितांन्त आवश्यक है।

वास्तव में इन चित्रों के माध्यम से इन पात्रों और उनकी पृष्ठभूमि की कथा ही नहीं कही गयी है वरन् तात्कालिक भारतीय समाज जो अनेक अर्थों में कथित भौतिक प्रगति के बाद आज भी अवसाद ग्रस्त है, की भी यथार्थ चित्र इनमें अंकित है। संस्मरण एक विधा ही नहीं, साहित्य की कसौटी भी है। यह व्यक्ति के पीछे उसकी आधार भूमि समाज की बुनावट एवं बनावट को देखें क्योंकि व्यक्ति का निर्माण उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में ही होता है। महादेवी वर्मा के ये संस्मरण इस विधा की अमूल्य संपदा है जो पाठकों को स्थाई रूप से स्पन्दित करते रहेंगे। इस संग्रह में 'अपनी बात' में महादेवी ने यह पंक्तियां लिखी है; जो विशेष माननीय है एवं इन संस्मरणों की मूल है-

''जिनके आँसुओं ने मेरा पथ स्वच्छ किया, जिनकी बिखरी कथाओं ने मेरे लिए जीवन की श्रृंखला जोड़ी जिनकी ममता सुन्दर, सरलता, शिव और मनुष्यता सत्य रही जो अपने उपकारों से अनजान और मेरी कृतज्ञता से अपरिचित है।''[१]

ये पंक्तियां इन रचनाओं या इनमें चित्रित पात्रों के प्रति लेखकीय सम्बन्ध की सघनता और आत्मीयता को प्रतिस्फूटित करती है।

## (१) अतीत के चलचित्र

इसमें ११ सामान्य व्यक्तियों के माध्यम से लेखिका ने समाज में व्याप्त बेरोजगारी, बेकारी, अशिक्षा एवं स्त्री जीवन की वह यथार्थता व्यक्त की है जिसमें वह दिनरात पिसती रहती है, का सजीव चित्रण है। इनके सारे कथानक सत्य घटनाओं पर आधारित है। इस संग्रह का प्रथम पात्र-'रामा' जो विमाता के दुर्व्यवहार और अमानवीयता का शिकार होकर महादेवी की देहरी पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा, उसे भिखारी समझकर माँ ने निकट जाकर प्रश्न किया तो रामा ने -

**''ए मताई ए रामा तो भुखन के मारे जो चलो,**
**कहता हुआ उनके पैरों में लेट गया।''[२]**

वस्तुतत्त्व की इस तरह की सच्चाई, संवेदनशीलता के समक्ष कलात्मक प्रस्तुति गौण हो जाती है। रामा जैसा संस्मरणात्मक आख्यान, रचना, लेखक की संवेदनशीलता, व्यापक सहानुभूति, पारदर्शी, निश्चल हृदय, परदुःखाकातरता, सूक्ष्म, अन्वीक्षण शक्ति वस्तु को सर्वांग में देखने की व्यापक दृष्टि का ही परिचायक है। सामाजिक जीवन प्रणाली में व्याप्त अशिक्षा, अज्ञानता, विशेषकर पुरुष की जड़ मानसिकता के विरुद्ध तार्किक और विश्वसनीय आक्रोश

देखते बनती है-

''... और कोई पूछ बैठता है- 'हमार इस्कुलिया कब खुली माई? उत्तर में सारा आक्रोश पुकार उठना चाहता है, अरे अभागे तुम्हारा गाँव जयराम पेशा है, तुम्हारे दादा ने अपना जीवन नष्ट करके इसके लिए ख्याति कमाई है, तुम जुआ खेलो, चोरी सीखो, पर भले-आदमियों के अधिकार में हस्तक्षेप करने का दुःसाहस मत करो।''[३]

इन संस्मरणों में यह तथ्य मुख्य रूप से रेखांकित होता है कि इनके चरित नायक सामान्य वर्ग और निम्न श्रेणी के हैं; इनका स्तर आर्थिक निम्न वर्ग का है, वे किसी-जाति विशेष से होने के कारण निरुपाय और निरीह नहीं है। प्रथमतयाः तो इन वृत्तान्तों में इस पर दृष्टि जाने ही नहीं पाती कि इन पात्रों की जातीय पृष्ठभूमि क्या है? रचना में कथ्य के माँग पर यह सूचना मिलती भी है तो अत्यन्त गौण रूप में अन्यथा ये सारे पात्र एक की वर्ग हैं, और वह वर्ग है-शोषित, पीड़ित, वंचित, अभावग्रस्त, निरीह और निराश्रित। हाँ यदि इन रचनाओं में कोई वर्ग-समूह उभर कर आता है तो वह है-अज्ञानी, अशिक्षित, रूढ़िग्रस्त, दबी कुचली और पुरुष-वर्ग से ठगा गया-'नारी वर्ग'। फिर चाहे वह किसी भी जाति, सम्प्रदाय का क्यों न हो। इन संस्मरणों का एक सन्देश दूर तक जाता है जिसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सुना जाना चाहिए कि-उत्पीड़न और अभाव का आधार जाति से नहीं वरन् स्त्री-वर्ग और मनुष्य मात्र में देखा जाना चाहिए।

## स्मृति की रेखाएं (१९४३)

इसमें ०७ व्यक्तियों के स्मृति को वर्णित किया गया है। इनके माध्यम से समाज के सभी पक्षों-सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि के माध्यम से पात्रों के जीवन की यथार्थता का अंकन है। भक्तिन के चरित्र में एक 'सेविका' की कुशलता है जो 'अंजनिपुत्र' के सेवा-भाव तुल्य है; तो वह दूसरी तरफ रूढ़ियों से बंधी हुई ममत्वपूर्ण स्मृतियों को भी प्रस्तुत किया गया है।

'जंगबहादुर', 'ठकुरीबाबा', 'चीनी फेरीवाला' एवं मुन्नू की स्मृतियों से समाज में व्याप्त गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि उभरकर आता है तो स्त्रियों के भिन्न-भिन्न स्वरूप भी दृष्टिगत होते हैं, जैसे- 'बालिका माँ', 'बिबिया', 'गुगिया', 'सबिया' जैसी स्त्रियाँ जहाँ संघर्षशील, स्नेहमयी, ममत्व से युक्त है, तो वहीं 'चीनी फेरीवाला' और 'बिन्दा' दोनों की विमाता के स्वरूप में एक 'कुलटा स्त्री' का स्वरूप सामने आता है। लेखिका का भावुकता, संवेदनशीलता और मानवीयतावादी दृष्टिकोण बिना किसी धनात्मक प्रतिफलन के जो कि वर्तमान समय में चरमोत्कर्ष पर है- 'ठकुरीबाबा' एक दर्जन लोगों के साथ कल्पवास के लिए बिना किसी परिचय के पहुँचकर आश्रय की आकांक्षा से स्नेहासिक्त स्वर में-

''बिटिया रानी का हम परदेसिन का ठहरै न देहो? बड़ी दूर से पांय पियादे चले आइत ह। इ तो रैन बसेरा है भोर भयो उठ जाना रे'' का झूठ कहित है? फिर क्या था उसके उत्तर में कहा और किया गया- ''आप यहीं ठहरें बाबा! मेरे लिए तो यह कोठरी ही काफी है। न होगा तो भगतिन खाना बाहर बना लिया करेंगी, इतना बड़ा बरामदा है आप सब आ जाएंगे। रैन बसेरा तो है ही।''[४]

इसी संग्रह में 'मुन्नू' नामक संस्मरण में मुन्नू की गाथा के अतिरिक्त उसकी माई (माँ) की गाथा वर्णित है। नौ वर्ष की अवस्था में पिता का साया छिन जाना, पिता के परिचित द्वारा उसे ठगे जाना, उसे बेच देने का उपक्रम करना, शराबी, अकर्मण्य, अशिक्षित, जाहिल युवा से विवाह होना, श्वसुर और बेटे का पेट पालना तथा बेटे को शिक्षित करने का उद्यम करना आदि ये सब जटिलताएं वर्तमान समाज में यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है। 'मुन्नू' की माई के परिचय में लेखिका-

(१) ''पुराना घड़ा और किसी सुख-स्मृति के अन्तिम चिन्ह जैसी तांबे की चमकती हुई कलशी लेकर वह यमुना से पानी लेने जाती है।''[५]

(२) ''उसका स्वभाव सोना था, इसी से वह दुःख के आँच में और अधिक निखर आया; राख और कोयला नहीं बन गया।''[६]

इस संग्रह की जितनी रचनाएं हैं सभी भावप्रवणता, भावकुशलता, संस्मृत, पात्रों के साथ जितनी आत्मीयता और गहन उत्कंठा से रची गयी है, वह सभी आत्मकथ्य और अपनीबात कहती हुई प्रतीत होती है। वास्तव में 'स्मृति की रेखाएं' सम्पूर्ण हिन्दी-संस्मरण-साहित्य में पाठक और साहित्य के प्रत्येक श्रेणी से भावकों के लिए अमिट रेखाएं बन पड़ा है।

अन्ततः ये संस्मरण व्यक्ति और समूहपरक होते हुए भी तत्कालीन भारतीय समाज विशेषकर लोकजीवन के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करते हैं और प्रत्येक पाठक में अपनी संवेदना के अनुपात में रचनाओं में व्यक्त सामाजिक यथार्थ की जकड़न को तोड़ने की उत्कंठा और बेचैनी जगाने के सामर्थ्य से भरे हैं।

## पथ के साथी (१९५६)

यह तीसरा संस्मरण संग्रह है जिसमें ०७ लेखकों की स्मृतियों को सजीव किया गया है। इसमें महादेवी ने अपने परिचय एवं संसर्ग में आये साथियों एवं अग्रजों के स्मृति-संदर्भों को संजोकर अन्यतम् संश्लिष्टता के साथ ऐसी शब्द-छवियां अंकित की है जो अद्वितीय है। वाह्य आकार-प्रकार उनमें लखित होने वाली आन्तरिक-चेतना, चेतना के भीतर व्यंजित होने वाले जीवन-संघर्ष, जीवन संघर्ष की तीव्रता के सामाजिक कारण और सामाजिक दबाव के कारण

व्यक्तित्व में उभरने वाली मानसिक-असंगतियां यह सब साकार हो गये हैं। महादेवी की चित्र व्यंजना का चरम विकास 'पथ के साथी' में लक्षित होती है-'निराला' के सन्दर्भ में-

''वे झंझा के समान है जो हल्की वस्तुओं को भी उड़ा ले जाती है; उस मन्द समीर जैसे नहीं जो सुगन्ध न मिले तो दुर्गन्ध का भार ही ढोता रहता है।''[७]

'पथ के साथी' में महादेवी ने यथा सम्भव निस्संग रहकर अपने साथियों का रेखांकन किया है; परन्तु वह एकमात्र ऐसी चितेरी है जिनके पास विषाद की आद्रता में हंसी का कुमकुम घोलकर अपने स्मृत्य को रचने की सामर्थ्य प्राप्त है। प्रसाद जी से प्रथम और आखिरी भेंट का उनका स्मृत्यांकन दृष्टव्य है-

''मेरी हँसी देखकर मुझे मेरे भारी-भरकम नाम के विपरीत देख प्रसाद जी ने निश्चल हंसी के साथ कहा-आप तो महादेवी जी नहीं जान पड़ती। मैंने भी वैसे ही प्रश्न में उत्तर दिया-आप ही कहाँ प्रसाद लगते हैं, जो चित्र में बौद्ध भिक्षु जैसे हैं।''८

महादेवी जी की शब्द-साधना समाज के उन्नयन की हेतु थी, ठीक उसी तरह संस्मृत शब्द साधक भी सार्वजनिक जीवन में सामाजिक और मनुष्यता के उत्थान के लिए कर्म सम्बद्ध थे। 'सियारामशरण गुप्त' की गांधी की चेतना उनके व्यावहारिक निजी-जीवन से लेकर सार्वजनिक जीवन में किस प्रकार सम्बद्ध थी; 'सुभद्रा' जी का रूढ़ियों के विरूद्ध विद्रोह और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए हर संभव त्याग के कर्तव्य, 'निराला' की करुणा किस प्रकार अपने परिवार की आवश्यकताओं को परे धकेलकर साधारण और निरीह जनों को तात्कालिक राहत प्रदान करने की अदम्य आकांक्षा से प्रेरित नित्य प्रति के नये-नये उद्यम, और 'मैथिलीशरणगुप्त' जो नैष्ठिक-वैष्णव और अहिंसा की प्रतिमूर्ति दिखायी देते हें; कैसे-साहित्य और कला के उत्थान के लिए सामूहिक प्रयास में धनिकों से प्राप्त उपेक्षा में अपना धैर्य खोकर उग्र रूप धारण कर लेते हैं, आदि प्रमाण रचनाकार के विचार और कर्म की एकता की छवियां रचनाओं में दृष्टिगत है-

''कला मनुष्य के हृदय और बुद्धि को प्रभावित करती है, और एक-एक को बदलकर ही सबको बदलने में समर्थ होती है। कलाकार को मनुष्य रूप में पहचानने के लिए उसकी कला और कर्म का गठबन्धन होना ही चाहिए।''[९]

## मेरा परिवार (१९७२)

'मेरा परिवार' महादेवी जी की अद्‌भुत कृति है; इसमें मानवेत्तर प्राणियों का स्मृत्यांकन किया गया है। इसमें पशु-पक्षियों के साथ बीते हुए अपने समय की यथार्थता का वर्णन हुआ है। इन प्राणियों की भी जीवन कथा मार्मिक है। महादेवी की संवेदना और करुणा का यह प्रसाद-विरल है, उन्होंने पशु-पक्षियों को भी माँ की ममता दी है, उन्हें पाला है, बड़ा किया

है, उनके हर्ष में पुलकित और दुःख में व्यथित, वियोग में उदास हुई हैं और संयोग में उल्लसित। ये पशु-पक्षी उनके परिवार के सदस्य बन गये हैं और प्रत्येक की पारिवारिक अहमियत है।

इनके निकट रहकर महादेवी जी इनके स्वभाव की पारखी बन गयी हैं। जैसे-

(१) ''मयूर कलाप्रिय वीर पक्षी है, हिंसक मात्र नही।''[१०]

(२) गिलहरियों का जीवन की अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होती।[११]

(३) खरगोश बहुत निरीह जीव है, दाँत होने पर भी वह किसी को काटता नहीं है।[१२]

(४) कुत्ता भाषा नहीं जानते ध्वनि पहचानते हैं।''[१३]

इनकी सन्निकटता और ध्यानाकर्षण करने की प्रवृत्ति पर-

''जब मैं लिखने बैठती तब अपनी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करने की उसे इतनी तीव्र इच्छा होती थी कि उसने एक अच्छा उपाय खोज निकाला।''[१४]

## (मेरा परिवार-गिल्लू)

यह पशु-विज्ञान की पोथियों से प्राप्त सूचना नहीं, साहचर्य और सहानुभूति से लब्ध ज्ञान है। महादेवी के इस परिवार की सबसे सम्मानित सदस्या 'गौरा' (गाय) थी, सबसे करुण अन्त भी उसी का हुआ, उसे ग्वाले ने गुड़ में लपेटकर सुई खिला दी थी, जो पूर्व में दूध दिया करता था, लेखिका का हृदय चित्कार कर उठा 'आह मेरा गोपालक देश'१५ कितनी हृदय विदारक स्थिति उत्पन्न हो जाती है; जो नितान्त समाज की स्वार्थलोलुपता व विकृत मानसिकता का परिचायक है। मेरा परिवार हिन्दी की एकमात्र ऐसी कृति है जिसमें मानवीयता की स्निग्धता और शीतलता ने पशुओं को भी व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। औद्योगीकरण और उसके परिणामस्वरूप प्रकृति तथा पशु-पक्षियों से दूर होती हमारी जीवनशैली और इस सदी में तीव्रता से आ रहे सामाजिक और भौगोलिक बदलाव को भी अनिवार्य रूप से रेखांकित करती है।

## उपसंहार

साहित्य या जीवन का विकास, संवर्द्धन और पोषण की दिशा राष्ट्रीय परिस्थिति, परिवेश और पारिस्थितिकी के आधार पर किया जाता है। हमारी मूलभूत आधार-व्यवस्था कृषि संस्कृति ग्राम्य और लोकजीवन को बचाये रखकर विकास का स्वरूप तय किया जाता है। पशु-पक्षियों का सानिध्य मनुष्य के लिए एक ऐसा आश्रय स्थल है जो मनुष्य होने के पहचान का आधार है। चित्र रचना करते हुए स्वयं चित्रित हो जाना और चित्र को अपनी संवेदना से सिक्त करके प्राणवान बना देना महादेवी जी की अनुपम कला साधना का प्रतीक है। महादेवी जी ने सामान्यजनों को चित्रित करके विशिष्ट बना दिया है; और विशिष्टजनों को आकार देकर उनके भीतर अनुस्युत मानवीयता के सामान्य धरातल को लक्षित करके साहित्य-रस की

सार्वजनियता को समर्थन प्रदान किया है, जिससे मानवीय संवेदना की भावपरिधि का विस्तार हुआ। संस्मरण मात्र उस व्यक्ति का चरित आख्यान ही नहीं होते अपितु समकालीन युग और परिवेश भी उसमें प्रकट होता है। अनेक बार तो संस्मृत व्यक्ति सिर्फ खूंटी होता है, जिस पर उस दौर का परिवेश और पूरा युग टांगा जाता है, संस्मरणकार संस्मृत्य के पृष्ठभूमि में रचे-बसे संसार को सामने लाता है। संस्मरणकार ने चरित-नायकों के कथात्मक प्रवाह के साथ-साथ बीच-बीच में प्रसंगवश लोक व्यवहार, लोकरूढ़ि-परम्परा पौराणिक-प्रसंग, पशु-पक्षियों की निरीहता, उनके साथ मानवीय व्यवहार और अपनी जीवनदृष्टि का जिस तरह रचनात्मक नियोजन करती है; वह महादेवी के संस्मरण लेखन और साहित्य में इनके प्रदेय की अप्रतिम संभावनाओं के कारण ही मनीषी लेखक-'इलाचन्द जोशी' ने कहा है-

'ये सभी चित्र समग्र विश्व साहित्य के इतिहास काल में अपनी विशिष्टता बराबर बनाये रखेंगे।''[१६]

'श्यामसुन्दरदास' जी भी इसकी विशिष्टता और प्रासंगिकता रेखांकित करते हुए लिखते हैं-

''साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को संतुष्ट करना नहीं है; वह तो मनुष्य को अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है।''[१७]

महादेवी जी के उक्त संस्मरण रचना और कर्म के स्तर की कसौटी पर भली-भाँति खरे उतरते हैं, और अपने चरित नायकों को लक्ष्य पर लिखी गयी महादेवी की पंक्तियां भी इसी संकल्प के निर्वाह का महत् संकेत देती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. अतीत के चलचित्र-पृष्ठ ०७
२. अतीत के चलचित्र-'रामा', पृष्ठ १३
३. स्मृति की रेखाएं, पृष्ठ ५७
४. स्मृति की रेखाएं-'ठकुरी बाबा', पृष्ठ ६१
५. स्मृति की रेखाएं-'मुन्नू', पृष्ठ ४५
६. स्मृति की रेखाएं, पृष्ठ ५१
७. पथ के साथी-'निराला', पृष्ठ ५८, ९वाँ संस्करण-२०२२ लोकभारती प्रकाशन
८. पथ के साथी-'प्रसाद', पृष्ठ ६७, ९वाँ संस्करण-२०२२ लोकभारती प्रकाशन
९. पथ के साथी-मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ३२, ९वाँ संस्करण-२०२२ लोकभारती प्रकाशन
१०. मेरा परिवार-नीलकण्ठ, पृष्ठ ३०, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण- २०१९
११. मेरा परिवार-गिल्लू, पृष्ठ ४१, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-२०१९
१२. मेरा परिवार-दुर्मुख, पृष्ठ ६१, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-२०१९

१३. मेरा परिवार-नीलू, पृष्ठ ८३, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-२०१९
१४. मेरा परिवार-गिल्लू, पृष्ठ ३८, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-२०१९
१५. मेरा परिवार-गौरा, पृष्ठ ७५, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-२०१९
१६. मेरा परिवार-उच्छवास-इलाचन्द जोशी, पृष्ठ १२, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-२०१९
१७. साहित्यालोचन-श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ ३३ पृ० ३१

**-शोध छात्रा**
**(हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग)**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**
**मो०: ९४५२९६४०३७**

# विमर्शों की परिधि में 'रेत समाधि'

–स्निग्धा पाण्डेय

सन् २०२२ में प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय बुकर पुरस्कार से सम्मानित ख्यातिलब्ध लेखिका गीतांजलि श्री का पाँचवाँ तथा हालिया उपन्यास 'रेत समाधि' केवल स्त्री की जिजीविषा को ही प्रतिबिंबित नहीं करता, अपितु विभिन्न सामाजिक- सांस्कृतिक-आर्थिक विषयों की पड़ताल करता है। वर्जनाओं का निषेध कथावस्तु के साथ ही साथ लेखकीय शिल्प तथा कौशल में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। समाज के समकालीन निरंतर परिवर्तित होते सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में प्रकारांतर उठते प्रश्नों की टोह लेता यह उपन्यास अनेक विमर्शों को स्वयं में प्रश्रय देता है।

स्त्री के अस्मितामूलक प्रश्नों पर आधृत 'रेत समाधि' स्वयं में किन्नर विमर्श, वृद्धों के अकेलेपन, सांप्रदायिक उन्माद की विनाशलीला, विभाजन की त्रासदी, व्यक्तिगत अलगाव की पीड़ा को समेटे हुए ऐसे सूक्ष्म भावनात्मक तंतुओं का स्पर्श करती है, जो इस उपन्यास की वैचारिक व्यापकता में वृद्धि कर इसे आधुनिक हिन्दी साहित्य के कालजयी उपन्यासों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देते हैं। अतिशयोक्ति न होगी कि इस उपन्यास का 'हर कतरा हर तिनका हर रेशा पूरा-एहसास है'।[1] 'रेत समाधि' में गीतांजलि श्री ने बिंबों के माध्यम से मानवीयता तथा शिल्प-सौष्ठव के अप्रतिम चित्र उकेरे हैं जिनकी विवेचना इस शोध-लेख का मूल विषय है।

उपन्यास का कथानक तीन भागों में विभक्त है-'पीठ', 'धूप' और 'हद-सरहद'। उपन्यास की नायिका अस्सी वर्षीय दादी 'चंद्रप्रभा' उर्फ 'चन्दा' अपने पति की हाल ही में हुई मृत्यु के बाद पारिवारिक जीवन में रहकर भी उसकी तरफ 'पीठ' किए रहती है किन्तु जब यादों की 'धूप' उसे एक दिन उठाती है तो वह एकदम नई हो उठती है और सारी 'हद-सरहद' लांघ जाती है। इस सम्पूर्ण कथानक में स्त्री-विमर्श का एक सशक्त संदेश 'सरहद लांघने' में प्रछन्न है। जिस समाज में नीति-नियम-रिवाजों-रिवायतों के सारे बंधन सिर्फ औरतों के लिए ही निर्मित किये गए, ऐसे परिदृश्य में एक वृद्ध स्त्री का अपने सपनों- आकांक्षों- यादों- अतीत के लिए 'सरहद' पार करना स्त्री-अस्मिता के गूढ़ अर्थ को कई सन्दर्भों में व्याख्यायित करता है। उसने केवल भौगोलिक सीमा को ही पार नहीं किया अपितु रूढ़ियों-वर्जनाओं-निषेधों-वैषम्य के जड़ मानकों का भी उल्लंघन किया, जो 'औरत' को मनुष्य के रूप में नहीं बल्कि 'वस्तु' के रूप में स्वीकार करते हैं। उम्र के जिस पड़ाव पर आम आदमी से संसार धार्मिक प्रवृतियों

की ओर उन्मुख होने की अपेक्षा करता है, अम्मा अपना प्रारब्ध, अपने अस्तित्व, अपनी अस्मिता को खोज रही थी। 'माँ' की दुनिया अब अलग हो चुकी थी-

''धीरे-धीरे माँ घर के कोनों कोटोरों में अपने को उड़ेलती है। उसे लगता है वो उड़ रही है। अच्छा लगता है। यहाँ पाँव जमीन पर नहीं पड़ते मेरे। चुपचाप उड़ती है। साँसों कि आवाजाही सुनती। तिनके का उड़ना सुनती। घास का उगना सुनती। धूप का लहराना सुनती। शाम का उतरना सुनती। बदन का खुलना सुनती। खुलने का खिलना सुनती''।[२]

अम्मा अपनी बेटी के पास रहने आती है तो बूढ़ी हो चुकी माँ के अंदर से निकली एकदम नई 'माँ' के तेवर बेटी को हैरान करते हैं। जीवन की नयी गिरहें खुलने लगती है और माँ की मनःस्थिति देख कर स्वछन्दता का दम भरने वाली बेटी के मन में तो ऊहापोह-सी मच जाती है-

''डरना, हर समय डरना, बेटी का नया जीवन है। अकेले होना एक बात है। पर अकेले किसी और के संग होना जिसके पैरों के बीच धरती से उठती फुफकारती भाप है जो फट के लावा की तरह बह निकले और हर दिशा में बहते मेहमान उसके और तुम किस काम कि जो तुमसे छोटी, गुड़िया सी बुढ़िया फर्श से नहीं उठती''।[३]

परिवार के मानकों और अम्मा के नयेपन के साथ होती इस उठापटक के बीच प्रकट होती है-'रोजी' बुआ उर्फ 'रजा' मास्टर, जो अम्मा के बहुत करीब है परंतु परिवार वाले उनकी लैंगिक पहचान को लेकर अनिश्चित हैं। अम्मा के साथ उभयलिंगी रोजी की आत्मीयता की चुनरी को गीतांजलि श्री ने मानवता और प्रेम के ऐसे मार्मिक रेशों से बुना है कि किन्नर-विमर्श का रंग इंसानियत को भिगो जाता है और तथाकथित सभ्य समाज से जवाब माँगता मुखरित हो उठता है कि पशु को मनुष्य के रूप में पहचान देने का आधार क्या है-भावनाएँ या लैंगिक पहचान? अम्मा और रोजी की अतरंगता इन सब सवाल-जवाब से परे दिन-ब-दिन गाढ़ी होती जाती है और दोनों साथ में पाकिस्तान जाने का कार्यक्रम बना लेती हैं। अकस्मात् रोजी की हत्या हो जाती है और उपन्यास का यह क्षण अम्मा के जीवन का 'परिवर्तन बिन्दु' बन जाता है। रोजी के साथ सँजोये सपने और उनकी खालिस दोस्ती अम्मा को साहस और सांत्वना देती है जिसके कारण अम्मा किसी भी 'सरहद' को पार करने में गुरेज नहीं करती और बिना वीजा के पाकिस्तान जाने का दृढ़-निश्चय कर उठ खड़ी होती है, जहाँ अतीत की 'चन्दा' को भविष्य का बहुत कुछ वापस करने जाना था।

''छोटी होती औरत सीटी ऐसे ही बजाती है जैसे रेगिस्तान में हवा बहती है, बिना कहीं टकराए और धीमे-धीमे रेत की परतें उड़ती हैं,समाधिस्थ आकार उभरते हैं''।[४]

यहाँ से अम्मा जैसे ही पाकिस्तान के लिए के लिए प्रस्थान करती है, वैसे ही उपन्यास का अस्तित्व भारत की आजादी के वक्त हुए भारत और पाकिस्तान के विभाजन की विभीषिका

से जुड़ जाता है। चंद्रप्रभा (अम्मा) अपनी बेटी का हाथ थामे पाकिस्तान में स्वयं कि खोजने निकल पड़ती है और गली- कूचों- बाजारों-शहरों से होते हुए खैबर पहुँचती है, जहाँ वह अपने पहले शौहर से मिलती है। पाकिस्तान आकर बेटी माँ के अतीत को जानती है, समझती है और महसूस कर पाती है कि सोलह वर्षीय बालिका चन्दा ने किस प्रकार विभाजन के दौरान अपने परिवार, पहले प्रेम (अनवर) और अपनी मिट्टी से अलगाव की पीड़ा झेली होगी।

''धोखा हुआ है मेरे साथ। मैं समझ रही थी मैं रास्ता दिखा रही हूँ, मुँह की खायी। हर बार सोचा, बस एक ये, इतना सा और, चलो साथ दे दूँ, तो यहाँ तो अंतहीन सिलसिला कि एक के बाद एक शगल में साथ देना पड़ेगा''।[५]

चंद्रप्रभा पाकिस्तान में वह सब कुछ ढूंढ निकालती है, जो वह सालों पहले वहाँ की रेत में दबा आई थी और आज उनके भग्नावशेषों के रूप में प्राप्त होने पर भी सुख का अनुभव कर रही है। वह अपने लकवाग्रस्त पहले शौहर अनवर और उसके परिवार से मिलती है और बस वहीं उनके पास ही बने रहना चाहती है। चंद्रप्रभा का बेबाक नजरिया न तो पूर्व पति के कुनबे को रास आता है और न उसकी खुद की बेटी को-

''बुढ़ापे में बच्चा हो जाना तो सुना है। मगर खुद को युवा समझने लगना ? कितना भोंडा लगता है''।[६]

युवा चंद्रप्रभा को तो इन गुस्ताखियों की सजा मिलनी तय ही थी और वह पूर्व पति के बेटे अली अनवर द्वारा दी भी गयी। चंद्रप्रभा की हत्या खैबर में गोली मार कर दी गयी तो उनकी बेटी को भी उनका साथ देने का दंड मृत्युस्वरूप मिला। वह रेत में ही समाधिस्थ हुई-उसी रेत में, जहाँ वह अपने अरमान-अतीत-यादें-हँसी और न जाने किन-किन की समाधि बना कर हिंदुस्तान में जा उड़ी थी। माँ तो जहाँ पनपी थी, वहीं की मिट्टी में मिल गयी।

सन् २०१८ में प्रकाशित 'रेत समाधि' की प्रासंगिकता व्यापक स्तरों पर प्रभावित करती है। इस उपन्यास में कविता कथा के शरीर में विन्यस्त है। गद्य लेखन की पारंपरिक शैली से इतर गीतांजलि श्री गद्य की काव्यात्मकता से 'रेत समाधि' को अलंकृत करती है तथा भाषा के शैल्पिक स्तर पर लेखन-शैली में परिवर्तन के द्वार खोल कर शैली-विमर्श का मार्ग प्रशस्त करती दिखाई पड़ती है। 'रेत समाधि' संगीत की तर्ज पर तरंगित उपन्यास है, जिसके शब्द-अर्थ, दृश्य, बिम्ब-सबमें ध्वन्यात्मकता रची-बसी है। लेखिका अपने कहने के अंदाज में किस्सागोई के निकट है और कथ्य में फँतासी का पुट उन्हें मूर्धन्य साहित्यकार गजानन माधव 'मुक्तिबोध' के समकक्ष स्थापित करता है। उपन्यास में फँतासी के माध्यम से गीतांजलि प्रकृति और उसके अवयवों की सहचरी बन जीवन-व्यक्ति-समाज के विकट रहस्यों को उद्घाटित करने का सफल प्रयास करती है। यूं तो भारत-पाकिस्तान के बंटवारे के प्रकरण में असंख्य रचनाओं ने मर्मज्ञ साहित्यकारों की लेखनी का आश्रय प्राप्त किया है, परंतु इस

उपन्यास के संदर्भ में एक रोचक तथ्य है कि इसके तीसरे भाग 'हद- सरहद' की शुरुआत में ही गीतांजलि श्री ने उन सभी कृतियों और संबंधित पात्रों- साहित्यकारों को भावभीनी श्रद्धांजलि दी है जिससे एक बार फिर वे सब पाठक की स्मृतियों में जीवंत हो उठते हैं। यथा-

''मोहन राकेश का गनी मलबे पर बैठता है''।[७]

उल्लेखनीय है कि उपन्यास शिल्प-भाव-कथ्य-तथ्य के स्तर पर अभूतपूर्व सृजन है, जिसमें भावुकता-संवेदनशीलता- मानवीय तार्किकता का अद्‌भुत संगम तो है ही, साथ ही समकालीन समस्याओं की मुखर प्रतिध्वनि भी समाहित है। भावों में समानुभूति, सामाजिक दोगलेपन पर गहरी चोट, आज की तारीख में उपस्थित ज्वलंत सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-सांप्रदायिक-राजनीतिक मुद्दे और कहने का अलहदा अंदाज-गीतांजलि श्री की 'रेत समाधि' को समकालीन हिन्दी लेखन की प्रभावशाली रचना के रूप में प्रतिस्थापित करती है। वस्तुतः 'रेत समाधि' की प्रथम पंक्ति ही स्वयं उपन्यास को विश्लेषित कर देती है-

''एक कहानी अपने आप को कहेगी''।[८]

'रेत समाधि' स्त्री-विमर्श, वृद्ध-विमर्श, किन्नर-विमर्श, सांप्रदायिक-विमर्श आदि की पैरोकार कृति के रूप में अपना प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करती है। एक ही रचना इतने सारे विमर्शों की उपस्थिति कृति तथा साहित्यकार की श्रेष्ठता-व्यापकता-प्रासंगिकता को सिद्ध करती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. तद्‌भव (अंक-३७) प्रकाशन तिथि मई २०१८, पृष्ठ.२६१
२. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, २०२२, पृष्ठ.१४२
३. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, २०२२, पृष्ठ. २२६
४. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, २०२२, पृष्ठ.२६१
५. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, २०२२, पृष्ठ.३१६
६. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, २०२२, पृष्ठ.३३६
७. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, २०२२, पृष्ठ.२६७
८. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, २०२२, पृष्ठ.६



**शोधार्थी**
**हिन्दी एवं आधुनिक भाषा विभाग**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**


⊙

# निर्मल वर्मा के उपन्यासों में आधुनिक भावबोध का स्वरूप

–अभिषेक सिंह

हिंदी कथा साहित्य में निर्मल वर्मा का विशिष्ट स्थान है। वह सही अर्थों में आधुनिक कथाकार हैं। निर्मल वर्मा की रचनाओं में आधुनिक व्यक्ति की पीड़ा, आकांक्षा, अकेलापन आदि मानवीय संवेदनाओं का चित्रण है।

निर्मल वर्मा का जन्म ३ अप्रैल १९२९ को हुआ, उनका बचपन शिमला हिमाचल प्रदेश में बीता तथा आरकोट बटलर स्कूल से हायर सेकंड्री की परीक्षा उत्रीर्ण की। निर्मल वर्मा अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने के बाद भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम हिंदी भाषा को बनाया। निर्मल वर्मा ने अपने साहित्य को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देखा- समझा और विदशों के साहित्य का हिंदी अनुवाद किया। २५ अक्टूबर २००५ को निर्मल वर्मा ने अपनी अंतिम सांस ली।

निर्मल वर्मा ने अपने लेखन यात्रा का आरम्भ कहानी लेखन से किया था। निर्मल वर्मा की पहली कहानी संग्रह परिंदे १९६४ में प्रकाशित हुई। डॉ० नामवर सिंह ने परिंदे को नयी कहानी आन्दोलन की पहली कहानी माना है और लिखते है- ''परिंदे निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है, बल्कि जिसे हम नयी कहानी कहना चाहते है उसकी भी पहली कृति है।''[१] निर्मल वर्मा की पहली कहानी परिंदे में ही अकेलापन, ऊब, सम्बन्ध बिच्छेद, अलगावबोध, पारिवारिक टूटन आदि समस्याऐं देखने को मिलता है जो आधुनिकता की महत्वपूर्ण पहलूओं में से है ये सारी चीजें उनके उपन्यासों में भी देखने को मिलता है। परिंदे कहानी में लतिका के माध्यम से निर्मल वर्मा ने अकेलेपन का बखूबी चित्रण किया है मिस्टर ह्यूबर्ट और लतिका आपस में बात कर रहे है जिसमे लतिका बताती है कि उसे अकेलापन अब अच्छा लगने लगा है-

मिस लतिका, आप कहीं छुट्टियों में जाती क्यों नही-सर्दियों में तो यहाँ सब कुछ वीरान हो जाता होगा।

''अब मुझे यहाँ अच्छा लगता है।'' लतिका ने कहा, 'पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था-अब आदी हो गयी हूँ।[२]

निर्मल वर्मा के उपन्यास भारत के स्वतंत्रता के बाद की बदलती राजनितिक परिस्थितिओं के कारण सामाजिक स्थिति और आधुनिक जीवन शैली से सम्बन्धित निर्मल वर्मा ने पाँच उपन्यास लिखें।

यूरोपीय पृष्ठभूमि को आधार बना के लिखा गया वे दिन उपन्यास १९६४ में प्रकाशित हुआ। यह निर्मल वर्मा का पहला उपन्यास था। जर्मन, चेक एवं यूरोपीय पात्रों के माध्यम से युद्धोत्तर यूरोप की मानसिकता दिखाने का सफल प्रयास किया है। 'लाल टीन की छत' यह निर्मल वर्मा का दूसरा उपन्यास है यह उपन्यास १९७४ में प्रकाशित हुआ जिसकी मुख्य पात्र 'काया' है। इस उपन्यास के कथा में नयापन है। काया एक ऐसी लड़की है जो अपने किशोरावय की अवस्था में आये परिवर्तन को वह नहीं समझ पाती है। सन १९७९ में प्रकाशित निर्मल वर्मा का तीसरा उपन्यास है- ''एक चिथड़ा सुख'। इसकी कथावस्तु ऐसे युवक-युवतियों पर है जो थिएटर के सम्मोहन से घर से दूर है दूसरें शहरों में अपने सपनों का घर बना लेते हैं।''

'रात का रिपोर्टर' का प्रकाशन १९८९ में हुआ जो चौथा उपन्यास है इसमें आज के बुद्धिजीवी रिपोर्टर रिशी को राजनितिक विसंगतियों के जाल में फसें हुए व्यक्ति की मानसिकता का चित्रण है। निर्मल वर्मा का उपन्यास 'रात का रिपोर्टर' आज की राजनैतिक विसंगतियों के शिकार हुए बुद्धिजीवी रिपोर्टर रिशी के मानसिक संकट का ब्यौरा है। आज की राजनीति सचमुच ही सर्वव्यापक होने के साथ सर्वग्रासिनी भी हो गयीं है।[३] 'अंतिम अरण्य' २००० में प्रकाशित निर्मल वर्मा का अंतिम उपन्यास है इस उपन्यास में कुछ गिने चुने ही पात्र है सभी अपने टूटते जीवन से वर्तमान जीवन में सामंजस्य बैठाने का प्रयास कर रहे हैं।

आधुनिकता की अवधारणा पश्चिमी समाज की देन है और वहां भी विशेष सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितिओं की उपज है, पश्चिम में इसका आगमन १८वीं सदी में जबकि भारत में इसका आगमन २०वीं सदी में हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आधुनिकता को, गतिशील प्रक्रिया मानते हुए कहा-आधुनिकता अपने आप में कोई मूल्य नहीं है, मनुष्यों ने जिन महनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है, उन्हें नये संदर्भ में देखने की दृष्टि आधुनिकता है।

आधुनिकता, विचारधारा है जो व्यक्ति को अधिक जागरूक, मानवीय-दृष्टिकोण से जीने का सही मार्ग दिखाती है। आधुनिकता एक मूल्य है, जो तार्किकता पर आधारित है। वैज्ञानिक बुद्धिवाद, तर्कवाद, प्रगति की अवधारणा, मानवीय मूल्य, जनतंत्र, स्वतंत्रता की खोज, आदि आधुनिकता के तत्वों से है जिसके परिणाम स्वरूप मूल्यों में ह्रास, एकाकीपन, अजनबीपन, तनाव, अलगाव, नैतिकता के स्थान पर उपयोगिता का जन्म, आदि चीज़े लोगों के बीच बढ़ने लगी जिसकी झलक हमें निर्मल वर्मा के उपन्यासों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए भारत में आर्थिक सामाजिक राजनितिक परिवर्तन लाये। यूरोप की अपेक्षा भारत में आधुनिकता का आगमन धीमी गति से हुआ विश्व की परिस्थितियों के साथ-साथ भारतीय मूल्यों में भी बदलाव आये। भारत में आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राजनितिक, परिवर्तन हो रहे थे, इसके फलस्वरूप लोगों में राष्ट्रीयता, उदारता एवं

स्वतंत्रता का विचार कायम हुआ। निर्मल वर्मा मार्क्सवाद को एक ऐसी विचारधारा मानते है जो मानवीय आदर्शों का सबसे सुंदर उदाहरण लेकर हमारे सामने आयी थी निर्मल वर्मा की चिंतन धारा और भाव धारा को स्वरूप देने में समाजवाद के आदर्श का या उसके पीछे का मार्क्सवाद का योगदान रहा है। अस्तित्ववाद का भी व्यापक प्रभाव निर्मल वर्मा की रचनाओं में देखा जा सकता है प्रवासी जीवन ने निर्मल वर्मा पर अस्तित्ववादी विचारधारा का गहरा प्रभाव पैदा किया है उनकी रचनाओं में अस्तित्व की तलाश करने वाले पात्र अधिक है।

निर्मल वर्मा आधुनिक हिंदी उपन्यास के सशक्त रचनाकार हैं, निर्मल वर्मा के उपन्यासों में देश की स्वतंत्रता के बाद की राजनितिक परिस्थितिओं के साथ बदलती हुई सामाजिक स्थिति के साथ आधुनिक जीवन शैली में उभरते अकेलापन और अजनबीपन के हाबी होने से व्यक्ति सम्बन्धों में गहराती आत्मीयता के टूटन का उल्लेख लिए हुए है।

निर्मल वर्मा जिस उपन्यास की सृष्टी करते है वहां पर पारिवारिक टूटन, घुटन, अलगाव, के ताने-बाने गहराते है। 'वे दिन' में 'रायना' और उसके पति के संबंधों में जड़ता बढती है, वे एक दुसरे के लिए असह्य हो जाते है 'रायना' और 'जाक' का बेटा 'मीता' इनके अलगाव के बाद वह भी बिखर जाता है 'रायना' और 'इंदी' आपस में बात करते है- 'मीता' आपके पास ही रहता है-

**'हमेशा नहीं। हम उसे बाँट लेते हैं।' 'वह धीरे से हस पड़ी',**

पिछले साल वह छुट्टीयों में जाक के संग था। उसी के साथ युगोस्लाविया गया था। अब पिछले कुछ महीनों से मेरे साथ रह रहा है.... हम अभी तक कोई निश्चय नहीं कर पाए हैं।[४] 'रात का रिपोर्टर' उपन्यास भी मानवीय संबंधों के टूटन की कथा है रिपोर्टर रिशी और उसकी पत्नी 'उमा' के सम्बन्ध रिक्त हो चुके है वह पत्नी की जगह प्रेमिका पर केन्द्रित हो जाता है-

'हम कितनी चीजों के काबिल होते है, जो हमारे साथ घटती है..... क्या दुखद विवाह के बाद मैं इस काबिल था की 'बिन्दु' से प्रेम कर सकूँ..... क्या मुझे पहले से चेतावनी नहीं मिल जानी चाहिए थी की जो आदमी अपनी पत्नी से प्रेम नहीं कर पाता, वह किसी दूसरी लडकी को चाहने की काबिलियत अर्जित नही कर सकता..... नहीं नहीं, काबिलियत कोई कसौटी नहीं..... की हम क्या करते हैं और क्या करने योग्य है।[५]

निर्मल वर्मा 'एक चिथड़ा सुख' में यह दिखाते है कि बिट्टी' अपने घर वालों से दूर रहती है जिसको उनसे अधिक लगाव नहीं है और जो है भी वह औपचारिक है, वह इलाहाबाद से दूर दिल्ली में थिएटर के संसार में खोई रहती है वह घर वापस भी नहीं जाना चाहती है यह उपन्यास आधुनिकता बोध लिए हुए है जिसमें अकेलापन अलगाव आदि चीजें सामने आती

है। तिब्बती लड़की और बिट्टी का 'भाई छोटे' आपस में बातें करतें है कि बिट्टी घर छोड़ आई है-

**''तुम यहाँ कितने दिन रहोगे? उसने पूछा।**
**कुछ और दिन। उसने कहा।**
**फिर?**
**मैं इलाहाबाद लौट जाऊंगा।**
**उसकी आँखें उठी बहुत धीमे स्वर में पूछा, यहाँ नहीं रहना चाहोगे।**
**तुम्हारी कजिन का भी घर वहीं है लेकिन वह यहीं रहती है।**
**उसकी बात अलग है। उसने कहां, वह अपना घर छोड़ आई है।**

अकेलापन बीसवीं शताब्दी के केन्द्रीय तनावों में प्रमुख रहा है समकालीन मनुष्य का भयावह अकेलापन निर्मल वर्मा के केंद्र में रहा है वे दिन उपन्यास में रायना और 'इंदी' के बीच अकेलापन इतना गहरा है कि वे दैहिक मिलन के बाद भी, दुसरे के न होकर अकेलेपन को ही भोगते है। क्षणों में जीने के बाद उन्हें मालूम है कि उन्हें फिर अकेलापन अलगाव अजनबीपन की समस्या है। इस उपन्यास में यह समस्या कुछ अलग ढंग से उभरती है। 'रात का रिपोर्टर' में राजनीतिक विसंगतियों का शिकार एक बुद्धिजीवी रिपोर्टर रिशी के द्वारा अपने आंतरिक संकट के कारण अपने जीवन के निकटतम व्यक्तियों के संबंधों के साथ पुनर्मूल्यांकन की कहानी प्रस्तुत की है।

'लाल टीन की छत' की एक प्रमुख पात्र है 'काया की बुआ'। जिनका अकेलापन इतना बढ़ गया की उनका खुद का जीवन पहाड़ लगने लगा और काया उनके जीवन को पहाड़ के अकेलेपन की तरह ही संबोधित करके कहती है-

''पहाड़! बुआ ने लम्बी सांस ली, मानो खुद उनकी जिंदगी पहाड़ हो गयी हो। कहीं बहुत दूर शहरों की गर्द और धूप में उनके दिन कटे थे, वे इन पहाड़ों की छुई-मुई छलनाओं से डरेंगी।''[७]

आधुनिता की सबसे महत्वपूर्ण पहलू है 'अस्तित्व की तलाश'। निर्मल वर्मा ने अपने उपन्यासों में विभिन्न पात्रों के माध्यम से इसी अस्तित्व की तलाश का सफल चित्रण किया है। 'एक चिथड़ा सुख' की बिट्टी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत और अपनी पहचान बनाने या अस्तित्व रक्षण के लिए अपना घर छोड़ दिल्ली आती है और अपने अंदर की लड़की खोजने का प्रयास करती है। 'अंतिम अरण्य' के नैरेटर जब अख़बार में विज्ञापन पढ़कर मेहरा साहब के यहाँ पहुचता है तो वह किसी नौकरी की तलाश में नहीं बल्कि एक ऐसे स्थान पर रहने जहाँ वह अपने अस्तिव को स्वयं को पा सके। मेहरा साहब जिसकी पत्नी मर चुकी है और बेटी दूसरे शहर में रहती है, इस उपन्यास का मूल्यतत्व है मृत्यु जो मेहरा साहब के साथ-साथ

चलती रहती है और मेहरा साहब भी मृत्यु का ही इंतजार करते रहते है, डॉ० सिंह इलाज करने के समय मेहरा साहब से पूछते कि देह में कोई तकलीफ तो नहीं तब मेहरा साहब कहते है-

''देह में कैसी तकलीफ डॉ सिंह, देह अपने में तकलीफ है..... उठता हूँ, तो वह भी उठने लगाती है, चलता हूँ, तो मेरे साथ-साथ चलती है, कभी-कभी सोचता हूँ कि उसकी आँख बचकर कहीं छिप जाऊँ, फिर देखूं, कैसे मेरा सुराग पाती है.....।''[८]

निर्मल वर्मा के उपन्यासों में प्रेम के बारे में नया दृष्टीकोण केवल व्यक्ति सबंधों को नहीं बल्कि मनुष्य के नियति के साथ-साथ मार्मिक रहस्यों को भी उद्‌घाटित करता है। वे दिन, रात का रिपोर्टर, एक चिथड़ा सुख में किसी न किसी का प्रेम अनिवार्य रूप से उपस्थित है। वे दिन के कथावाचक और रायना के बीच जो प्रेम सम्बन्ध था उसमें भावुकता और आत्मीयता केवल शारीरिक आकर्षण से ज्यादा अगाध नहीं है। रात के रिपोर्टर के नायक रिशी को लगता है उसका जीवन बिंदु से प्रेम होने के बाद ही आरम्भ हुआ है- समय था जो अब है सिर्फ तुम जी नहीं रहे थे, जीना तब शुरू होता है जब प्रेम होता है।[९] लाल टीन की छत उपन्यास में निर्मल वर्मा ने भारतीय परिस्थिति में प्रेम का नया रूप इस्तेमाल किया है पत्नी की कमी पूरा करने के लिए काया के चाचा 'नथवाली औरत' को लाये है, नथवाली के लिए बाहर की दुनिया जैसे थी ही नहीं, उन दोनों का के सम्बन्धों में कहीं प्रेम या आत्मीयता का भाव नहीं है, सिर्फ व्यहरिकता है।

निर्मल वर्मा के उपन्यासों में व्यर्थता बोध, मृत्युबोध, भय, अर्थहीनता, अजनबीपन की मनोवृति देखने को मिलती है। निष्कर्ष रूप से कह सकते है कि निर्मल वर्मा का उपन्यास आधुनिक जीवन को चित्रित करने वाला उपन्यास है। आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास में जिन रचनाकारों का योगदान रहा है। उनमे निर्मल वर्मा अग्रणी हैं। उन्होंने उपन्यास के माध्यम से शहरी जिंदगी की जटिलता और वास्तविकता पकड़ने का प्रयास किया है। इन उपन्यासों में आधुनिकता, आधुनिक जीवन की विसंगतियाँ और आधुनिक वातावरण है। मुक्त जीवन जीने वाले युवक-युवतियों का अवसाद का चित्रण 'वे दिन' में हुआ है। एक चिथड़ा सुख में आधुनिक पारिवारिक जीवन टूटते-बिखरते सम्बन्ध आदि का चित्रण हुआ है इस उपन्यास के सम्बन्ध में आलोचक कृष्ण दत्त पालीवाल ने लिखा है- ''दरअसल यह उपन्यास आधुनिकता की धुंध में खोते जा रहे मनुष्य की यातना का प्रश्नाकूल इतिहास है जिसमे सभी पात्र आधे-अधूरे और पीड़ित है। प्रेम पाकर भी प्रेम से वंचित, ठगे, उदास, कुंठित हैं।''[१०] लाल टीन की छत की काया का अकेलापन अपने परिवेश में व्याप्त सन्नाटे और मौन से उत्पन्न अकेलापन है।

आधुनिक भावबोध विभिन्न प्रभावों से उत्पन्न एक नवीन चेतना है, जो सतत विकासमान

की अवधारणा है। हिंदी साहित्य में नयी कहानी आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर निर्मल वर्मा का कथा साहित्य में आधुनिकता का बोध लाने वाले कहानीकारों में शिखर स्थान है। निर्मल वर्मा आधुनिक जीवन से उत्पन्न पारिवारिक-सामाजिक विषमताओं और विसंगतियो को अपने उपन्यासों में प्रायः अलग-अलग दृष्टिकोण से उठाया है। आज के बदलते समाज में मानवीय सम्बन्धों की जटिलताए पारिवारिक संबंधो का टूटन, जीवन में व्यर्थता बोध, समाज के बीच रहकर भी अपने को अलग और एकांकी अनुभव कराना, अलगाव जैसी समस्या निर्मल वर्मा के उपन्यासों में प्रतिबिंबित होती है। निर्मल वर्मा की कई कहानियों और उपन्यासों में प्रायः पाश्चात्य संस्कृति, विदेशी जीवन, महानगरीय परिवेश, में होने वाले विसंगतियों का चित्रण निर्मल वर्मा की कथा साहित्य में सजीव रूप से हुआ है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. कहानी नयी कहनीं- नामवर सिंह पृष्ठ ५२ संस्करण २०२१ लोकभारती प्रकाशन।
२. परिंदे- निर्मल वर्मा पृष्ठ १२६ संस्करण २०२३ वाणी प्रकाशन।
३. निर्मल वर्मा- सं० अशोक वाजपेयी पृष्ठ १८२ आवृति २०२३ राजकमल प्रकाशन।
४. वे दिन- निर्मल वर्मा पृष्ठ ७८ संस्करण २०१७ वाणी प्रकाशन।
५. रात का रिपोर्टर- निर्मल वर्मा पृष्ठ २५ संस्करण २०१७ वाणी प्रकाशन।
६. एक चिथड़ा सुख- निर्मल वर्मा पृष्ठ ८२ संस्करण २०२० वाणी प्रकाशन।
७. लाल तीन की छत- निर्मल वर्मा पृष्ठ १२७ संस्करण २०१७ वाणी प्रकाशन।
८. अंतिम अरण्य- निर्मल वर्मा पृष्ठ १२६ संस्करण २०१७ वाणी प्रकाशन।
९. रात का रिपोर्टर- निर्मल वर्मा पृष्ठ १२६ संस्करण २०१७ वाणी प्रकाशन।
१०. निर्मल वर्मा और उत्तर औपनिवेशिक विमर्श- कृष्ण दत्त पालीवाल पृष्ठ १७८ संस्करण २०१२ भारतीय ज्ञानपीठ।



**शोधार्थी (हिंदी विभाग)**
**ईश्वर शरण डिग्री कालेज**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**
**मो० ९४५१८७७३७६**
**शोध निर्देशक-डॉ० आलोक मिश्र**

# गाँधीवादी सर्वोदयी चिन्तन का नैतिक आयाम

–डॉ० संजय शर्मा

**"परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।"**

गोस्वामी तुलसीदास रचित 'रामचरित मानस' के उत्तरकांड की यह चौपाई बताती है कि 'दूसरों की भलाई करने के समान कोई धर्म नहीं है और दूसरों को दुःख पहुँचाने के समान कोई अधर्म नहीं है।' हिसां, छल-छद्म, अवसाद, असमानता, असंतोष, संवेदनहीनता व स्वार्थपरता जैसी प्रवृत्तियों को धारण करने वाले आधुनिक भौतिकवादी समाज के मूल में 'स्वहित' है। पश्चिमी विचारधाराएँ 'स्वहित' की साधना के लिए अपनाए जाने वाले साधनों की नैतिकता-अनैतिकता पर विचार नहीं करती। मानव आतंक के साए में जी रहा है। विश्व पहले इतना असुरक्षित नहीं था। लाख प्रयासों के बावजूद उदारवाद एवं मार्क्सवाद समस्या का समाधान ढूढ़ नहीं पाया। अपनी श्रेष्ठता का दंभ भरने वाला पश्चिमी उदारवादी लोकतन्त्र शांति स्थापना का प्रयत्न बंदूको से करते-करते अप्रासंगिक होता जा रहा है।

अब लोग शांति-सुकून से जीवन बसर करना चाहते हैं। ऐसा तभी होगा जब हम जीवन में परस्पर प्रेम, भाईचारा, सहयोग से ओत-प्रोत 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' व 'रस्किन' की 'अनटू दिस लास्ट' पर आधृत गाँधीवादी सर्वोदयी विचार को आत्मसात करेंगे। गाँधीवादी सर्वोदयी चिंतन एक ऐसे समाज व्यवस्था की परिकल्पना करता है जिसमें सभी का भला हो, उत्थान हो। इसमें सभी तत्त्वों को नैतिकता की कसौटी पर कसा गया है।

श्री निवास तिलक, 'द मिथ ऑफ सर्वोदयाः ए स्टड़ी ऑफ विनोवाज् कांसेप्ट' (२०२३), जीतेन्द्र कुमार सोनी, 'सर्वोदय की अवधारणाः गाँधीय प्रतिमान' (२०२२), त्रिपुरारी उपाध्याय, 'महात्मा गाँधी का स्वदेशी विमर्श' (२०२२), बी.आर. मेहता, 'भारतीय राजनीतिक चिंतन के आधार' (२०१७), मीना बरडिया, 'गाँधी के आध्यात्मिक सर्वोदय पर पुनः दृष्टिपात' (२०१७), प्रो. बी.एम. शर्मा, डॉ. रामकृष्णदत्त शर्मा, डॉ. सविता शर्मा, 'गाँधी दर्शन के विविध आयाम' (२०१५) व जे.सी. जौहरी, सीमा जौहरी, 'आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त' (२०१२) ने गाँधी के सर्वोदय संबंधी विचारों का अध्ययन किया है। शोध पत्र में गाँधीवादी सर्वोदयी चिंतन के नैतिक आयाम का अध्ययन किया गया है, जिसमें द्वितीयक स्रोत प्रयुक्त हुए हैं।

महात्मा गाँधी (१८६९-१९४८) का दर्शन मानव जाति के लिए अमूल्य धरोहर है। उनका जीवन उनके विचारों व आदर्शों की अभिव्यक्ति है। कोई भी व्यक्ति, सरकार चाहे गाँधी दर्शन की कितनी ही आलोचना करे, अपनी नैतिक औचित्यता का अर्जन गाँधी के नैतिक विचारों से ही प्राप्त करने की कोशिश करती है। सर्वोदय के आकांक्षी गाँधी जी ने फोनिक्स-आश्रम (१९०३), टालस्टाय-फार्म (१९१०), सेवाश्रम-आश्रम (१९१५), साबरमती-आश्रम (१९२०) व सेवाग्राम-आश्रम (१९३३) की स्थापना की। गाँधी जी स्थापित आश्रमों में जीवन का सार था-'जात पॉत पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।' गाँधी के लिए समाज सेवा 'आत्म दर्शन' का नाम है। आश्रमों में सत्य-अहिंसा, सदाचार, धर्म, सत्याग्रह व सर्वोदय के सिद्धान्तों के आधार पर प्रशिक्षण दिया जाता था। आश्रम एक प्रकार से गाँधी की प्रयोगशाला थे और आश्रमवासी उनके यंत्र। भारतीय स्वतन्त्रता के सेनानी ने आजादी के लिए असहयोग आन्दोलन (१९२०), सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०) व भारत छोड़ो आन्दोलन (१९४२) चलाया। गाँधी जी के व्यक्तित्त्व का ही कमाल था कि घर की चाहारदीवारी से बाहर निकल महिलाएं, उपेक्षित वंचित वर्ग (दलित, आदिवासी) व शोषित किसान गाँधी के साथ हो लिए। गाँधी जी ने अपने विचार, व्यवहार व कार्य से लोगों के हृदय में इस भावना को उभारा कि 'हम एक हैं'। इसी राष्ट्रीयता की भावना ने उन्हें राष्ट्रपिता बना दिया। गाँधी जी ने अपने जीवन काल में अनेक पुस्तकों की रचना की और पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया, जिसमें 'इण्डियन केस फॉर स्वराज' (१९३२), 'स्टोरी अहफ माई एक्सपेरीमेंट विद ट्रुथ' (१९४०), 'सत्याग्रह' (१९३५), 'द साइंस अहफ सत्याग्रह' (१९५७), 'हिन्द स्वराज' (१९५८) जैसी पुस्तकें व 'इण्डियन ओपिनियन, यंग इंडिया, नवजीवन, हरिजन, हरिजन सेवक, हरिजन बंधु जैसी पत्र-पत्रिकाएं हैं। गाँधी जी ने ग्राम उद्योग संघ, तालीम संघ व गो-रक्षा संघ भी बनाए। गाँधी जी के विचारों पर हिन्दू धर्म ग्रन्थों (वेद, पतंजलि योग-सूत्र, गीता, रामायण, महाभारत) ईस्लाम, इसाई, बौद्ध व जैन धर्म, पश्चिमी विचारक (जॉन रस्किन, टॉलस्टाय, डेविड थोरो) भारतीय विचारक गोखले व तिलक का प्रभाव है। मार्टिन लूथर किंग नेल्सन मंडेला, आंग सू की जैसी हस्तियां गाँधी जी से प्रभावित हैं।

सर्वोदय संस्कृत भाषा के दो शब्दो- 'सर्व' व 'उदय' से मिलकर बना है। जिसका मतलब है-सबका उदय, सबका उत्थान। सर्वोदय भारतीय संस्कृति का आदर्श वाक्य है। जैन मुनि समंतभद्र का कथन है, ''सर्वापदाममंतकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।'' 'बसुधैव कुटुम्बकम्' व 'सर्वे भवन्तु सुखिन्' वाक्यांश सम्पूर्ण धरा को एक परिवार के रूप में देखता है व सर्व कल्याण को प्रमुखता देता है। महात्मा गाँधी का 'सर्वोदय' दर्शन जॉन रस्किन से प्रभावित है। बात उन दिनों की है जब गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका प्रवास कर रहे थे। एक बार वे जोहान्सवर्ग

से डरबन की यात्रा रेल से कर रहे थे, तब उनके मित्र पोलक ने रस्किन की पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट' जिसका अर्थ है- 'अंत वाले को भी' पढ़ने को दी। गाँधी जी पुस्तक पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुए और गुजराती में 'सर्वोदय' नाम से अनुवाद किया। रस्किन द्वारा प्रतिपादित किए गए सिद्धान्त गाँधी जी के प्रेरणास्रोत बने। गाँधी जी ने आत्मसात किया कि-

एक व्यक्ति की भलाई में ही सबकी भलाई निहित है।

वकील एवं नाई दोनों के कार्य की कीमत एक सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एक समान है।

मेहनत मजदूरी कर किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

रस्किन से उन्होंने यह तत्त्व ग्रहण किया कि समाज में साधारण से साधारण आदमी का भी महत्व है और इसीलिए उनके कल्याण का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस पुस्तक के संदेश ने गाँधी जी के जीवन में रचनात्मक परिवर्तन कर दिया। सर्वोदय के सिद्धान्त के बारे में गाँधी जी कहते हैं कि, ''इन सिद्धान्तों में से प्रथम से तो वे पूर्व में परिचित थे; दूसरे सिद्धान्त के प्रति उनका दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं था जबकि तीसरे सिद्धान्त पर उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया।'' रस्किन की पुस्तक से उन्हें यह ज्ञात हुआ कि प्रथम सिद्धान्त में ही शेष दोनों सिद्धान्त समाविष्ट हैं। उन्होंने स्वयं को इन सिद्धान्तों पर अमल करने के प्रयत्नों के प्रति समर्पित कर दिया।

'सर्वोदय' का विचार गाँधी चिंतन की आत्मा है। गाँधी जी जिस काल में 'सर्वोदय' का विचार गढ़ रहे थे उस समय पाश्चात्य जगत में उपयोगितावादी चिंतन की धूम थी। समग्र पश्चिम 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का मंत्र जाप कर रहा था। ऐसे काल खंड में गाँधी जी ने 'भौतिक सुख' की जगह 'आध्यात्मिकता' को महत्त्व दिया। गाँधी जी ने 'सर्वोदय' को जीवन दर्शन, मानव समाज का लक्ष्य व साध्य-साधन माना। उनकी मान्यता है कि 'सर्वोदय' एक जीवन दर्शन, एक जीवन पद्धति तथा नए समाज की रचना की दिशा में किया जाने वाला स्तुत्य प्रयास है। गाँधी जी 'सर्वोदय' को एक नैतिक कर्तव्य मानते हैं और 'सर्वोदय' में रत रहने वाले को कर्मयोगी बताते हैं। गाँधी जी ने उपयोगिवाद की नैतिक आधार पर निंदा करते हुए कहा, 'अहिंसा का पुजारी उपयोगितावाद का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूत हिताय' यानि सबके अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा।...तर्क संगत बने रहने के लिए उपयोगितावादी अपने को कभी बलि नहीं कर सकता परन्तु अहिंसावादी हमेशा मिट जाने को तैयार रहता है।' गाँधी जी सत्य व अहिंसा पर आधारित स्वराज में ही सबका उत्थान देखते हैं। उनका विचार था कि 'सर्वोदय' हरेक मानव-समाज का परम लक्ष्य है। वहाँ तक

जाना प्रत्येक का परम कर्तव्य है। वे कहते हैं, 'सर्वोदय' के मार्ग में पहाड़ भी आ सकते हैं, वेगवती नदियाँ भी रास्ते में बाधा स्वरूप आ सकती हैं और बड़े-बड़े खड्डे-खाइयाँ आदि भी आ सकती हैं किन्तु इन बाधाओं के होते हुए भी हमें अपने परम लक्ष्य की ओर जाने से कोई रोक नहीं सकता। इसी इच्छा शक्ति के आधार पर हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। गाँधी जी के सर्वोदयी समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के साथ प्रेम बंधन में बधा होगा। प्रत्येक मानव 'पर-पीड़ा' को स्व-पीड़ा समझेगा। मानव-मानव के मध्य संबंध समानता पर आधारित होगा। गाँधी जी कहते हैं, 'सभी व्यक्ति परस्पर प्रेम में बंधे होंगे। उनमें कोई भेद-भाव नहीं होगा। राजा तथा किसान, हिन्दू तथा मुसलमान, छूत तथा अधूत, गोरे तथा काले, अपराधी तथा संत सभी बराबर होंगे। कोई भी दल अथवा व्यक्ति किसी भी दल अथवा व्यक्ति का शोषण नहीं करेगा। 'सर्वोदय' समाज के सभी सदस्य समान होंगे। प्रत्येक को अपने श्रम का उचित फल मिलेगा। व्यक्ति की रक्षा तथा उनकी संरक्षकता का कार्य सबल करेंगे। इस प्रकार सभी व्यक्ति सबका भला करने में सहायक होंगे।'

गाँधी जी का सर्वोदय नैतिक मूल्यों से ओत-प्रोत है। इसमें धर्म, अहिंसा, राजनीति का आध्यात्मीकरण, साध्य-साधन की पवित्रता, सत्य-ईश्वर, सत्याग्रह, विश्वशांति, आत्मत्याग, परहित जैसे तत्वों का समावेश है। गाँधी जी का धर्म 'मानव सेवा' है। यह हिन्दू-मुसलमान नहीं है। इसका अर्थ है, 'विश्व के सुव्यवस्थित नैतिक शासन पर भरोसा।' गाँधी जी कहते हैं कि, 'धर्म के साथ नैतिकता अभिन्न रूप से जुड़ी है, जैसे ही हम नैतिकता को खो बैठते हैं, वैसे ही हम धार्मिक नहीं रह जाते।' गाँधी जी कहते हैं कि, 'अहिंसा सर्वोच्च धर्म व नैतिकता है।' 'जो समान भाव से सारे विश्व के लिए श्रेयस्कर है।' गाँधी जी के सर्वोदय का परम लक्ष्य राजनीति का आध्यात्मीकरण है। वह बताते हैं कि, 'धर्म शून्य राजनीति मौत के फन्दे के समान है जो आत्मा को नष्ट कर देती है।' गाँधी जी का मानना है कि जीवन का लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है। गाँधी जी का विश्वास था कि आत्म साक्षात्कार के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण मानव जाति के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाये और सबके हित में, सबके कल्याण हेतु कार्य किया जाये। राजनीति में भाग लिए बिना वह ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य के सभी कार्य जीवन के समविष्ट के अविभाज्य अंग होते हैं। आज आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और शुद्ध धार्मिक कार्य एक-दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते। गाँधी जी का विचार है कि, 'जो मनुष्य देश-प्रेम को नहीं जानता, वह अपने सच्चे कर्तव्य या धर्म को नहीं जानता है।' अतः 'धर्म मानव-सेवा, सर्वहित, सर्व कल्याण, देश-प्रेम सभी का समविष्ट रूप है।' गाँधी जी आगे कहते हैं कि, 'वही व्यक्ति आध्यात्मिक है जो सम्पूर्ण समाज के वैभव एवं स्वार्थ को त्यागकर सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए कार्य करता है। गाँधी जी इस बात को मानते

हैं कि हम विश्व की नैतिक व्यवस्था में विश्वास रखते हुए सत्य, अहिंसा और प्रेम आदि नैतिक नियमों की श्रेष्ठता स्वीकार करें।'

गाँधी जी की मृत्यु के उपरान्त उनके निष्ठावान शिष्यों (विनोवा भावे, जे. बी. कृपलानी, जयप्रकाश नारायण, दादा धर्माधिकारी, धीरेन्द्र मजूमदार, काका कालेलकर व के.जी. मशरूवाला) ने सर्वोदय समाज की अवधारणा को मूर्त रूप देने के लिए आन्दोलन किया।

डॉ. सम्पूर्णानन्द (१८९०-१९६९) का मत है कि 'सर्वोदय' का अर्थ है उदय, सबका विकास, किन्तु उदय शब्द का अभिप्राय केवल भौतिक समृद्धि के लिए नहीं, बल्कि आध्यात्मिक कल्याण के लिए है।'

गाँधी जी के मानस पुत्र विनोवा भावे (१८९५-१९८२) ने गाँधी जी के 'सर्वोदय' दर्शन को व्यवहारिक बनाया। उन्होंने भूदान आन्दोलन (१९५१), सम्पत्ति दान, जीवन-दान, ग्राम-दान आन्दोलन चलाया। विनोवा जी कहते हैं कि, 'सर्वोदय' की बुनियाद है सत्य-निष्ठा। गाँधी जी के निर्वाण के पश्चात् सर्वोदय समाज की कल्पना लोगों में फैल गयी परन्तु यह प्रश्न उठता है कि यह सर्वोदय समाज क्या है ?....यह शब्द हमें कहता है कि हमें चन्द लोगों का उदय नहीं करना है, अधिक से अधिक लोगों के उदय से हमें संतोष नहीं है वरन् सबके उदय से ही समाधान होगा। छोटे-बड़े, दुर्बल-सबल, जड़-बुद्धिमान इन सबका उदय होगा, तभी हम चैन लेंगे। ऐसा विशाल भाव हमें यह शब्द दे रहा है।' वह आगे कहते हैं, 'सर्वोदय एक आदर्श अद्वैत है और उसकी नीति समन्वय की है।' विनोवा भावे गीता के 'निष्काम कर्म' संबंधी ज्ञान को सर्वोदय का मूल आधार स्वीकारते हैं। उनका मत है, 'आध्यात्मिक ज्ञान व मानव मात्र के प्रति दया हिन्दू धर्म की दो प्रधान धारणाएं हैं- सर्वोदय के इस वेदान्तिक आधार की खोज उस श्रद्धा के अनुकूल है जो गाँधी जी 'ईषोपनिषद्' तथा 'भगवतगीता' के प्रति रखते थे।'

दादा धर्माधिकारी (१८९९-१९८५) एक गाँधीवादी सर्वोदयी हैं। सर्वोदय के बारे में वे कहते हैं, 'सुबह वाले को जितना, शाम वाले को भी उतना ही प्रथम व्यक्ति को जितना, अन्तिम व्यक्ति को भी उतना ही, इसमें समानता और अद्वैत का वह भाव समाया है जिस पर सर्वोदय का विशाल प्रासाद खड़ा है।' वह गाँधी चिंतन में 'सर्वोदय' शब्द की व्यापकता, निहितार्थ व ध्येय के बारे में बताते हैं कि 'सर्वोदय शब्द भले ही नवीन हो किन्तु उसका अर्थ सबका जीवन साथ-साथ सम्पन्न हो इतना ही है। जीवन का अर्थ है- विकास, अभ्युदय या उन्नति। सभी का विकास हो इसीलिए सर्वोदय। परन्तु प्राचीन समय में अभ्युदय शब्द का प्रयोग केवल ऐतिहासिक वैभव के अर्थ तक ही सीमित था इसीलिए गाँधी जी ने केवल उदय शब्द का प्रयोग किया एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है।'

लोकनायक जयप्रकाश नारायण (१९०२-१९७९) गाँधी जी के 'सर्वोदय' चिंतन को 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' की विचारधारा मानते हैं। वह मानते हैं कि 'सर्वोदय' शक्ति का विरोधी विचार है, केवल निःस्वार्थ सेवा भावना एवं सामाजिक अनुशासन से ही तालमेल स्थापित हो सकता है।' वह सर्वोदय को 'जन समाजवाद' मानते हैं और 'समग्र क्रान्ति' का विचार देते हैं। जयप्रकाश नारायण ने भी स्वीकार किया कि पश्चिमी विचार मनुष्य में सद्गुणों को प्रोत्साहित व सामाजिक पुनर्निर्माण करने में सक्षम नहीं है। वह कहते हैं, 'मैं संतुष्ट हूँ कि मानव को अच्छाई के प्रोत्साहन को खोजने के लिए भौतिकवाद से आगे निकल जाना चाहिए। उसके उपसूत्र के रूप में मैं अनुभव करता हूँ कि सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य भौतिकवादी दर्शन की प्रेरणा से सफल नहीं हो सकता है।' जे. पी. सर्वोदय को एक कर्म दर्शन मानते हैं जो मानवता को शोषण मुक्त कर सकता है।

राम मनोहर लोहिया (१९१०-१९६७) एक समाजवादी विचारक हैं। लोहिया के विचारों पर जयप्रकाश नारायण की अपेक्षा गाँधीवाद का अधिक प्रभाव है। लोहिया ने ग्राम गणराज्य, गावों को आत्मनिर्भर बनाने, विश्व संसद, विश्व सरकार, विश्व शान्ति के सन्दर्भ में विचार दिए। लोकतांत्रिक समाजवादी लोहिया समाजवाद लाने के लिए गाँधीवादी तकनीक अपनाने पर जोर देते हैं। लोहिया ने सलाह दी कि यदि समाजवाद को जिंदा रखना है तो उसे गाँधीवादी सिद्धान्तों के अनुरूप विकसित करना चाहिए।

महात्मा गाँधी के अनुयायियों व शिष्यों ने 'सर्वोदय' को व्यवहारिक धरातल पर उतारने का प्रयत्न किया। सभी ने 'ईश्वर में विश्वास' पर बल दिया और उस विश्वास को मानव की अच्छाई में आस्था तथा मानवता की सेवा के समरूप माना। गाँधी जी के नैतिक सूत्रों को स्वीकारा परन्तु सामाजिक व सकारात्मक पक्षों पर अधिक बल दिया।

सर्वोदय का विचार भारतीय संस्कृति के मूल्यों के अनुकूल है। भारतीय संतो, महात्माओं ऋषियों ने अपने विचारों में नैतिक मूल्यों के महत्त्व पर बल दिया है। महात्मा गाँधी एक संत थे। वी. पी. वर्मा कहते हैं, ''हमारा राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन एक रोग से ग्रस्त रहा है। हमारे युग का, संभवतः सभी युगों का रोग रहा है सत्ता की उन्मादपूर्ण तृष्णा, सहयोगपूर्ण गतिविधि तथा कष्टों की अपेक्षा प्रभुसत्ता को प्रिय माना जाता है। व्यक्तिगत समृद्धि की खोज में सेवा को त्यागा जा रहा है। इस प्रकार, मानवता लगभग नैतिक पतन तथा आचरित शून्यवाद के चरण में से गुजर रही है। सत्ता की पागलपन भरी भाग-दौड़ के युग में, सर्वोदय का महत्त्व आत्म-त्याग के स्थायी मूल्य पर बल देने में निहित है। यह दलीय झगड़ों, ईर्ष्याओं तथा प्रतियोगिता के स्थान पर सहकारितापूर्ण पारस्परिक संबंधों एवं व्यापक परहितवाद के पवित्र नियमों को लागू करना चाहता है। दलीय संघर्षों ने हमारे राजनीतिक जीवन को भ्रष्ट

तथा विकृत कर दिया है। ग्राम पंचायतों में बहुमत के मतदान के स्थान पर सर्व सहमति की विधि पर बल देकर सर्वोदय सर्वोच्च महत्त्व के नैतिक सिद्धान्तों को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा है, क्योंकि यह जोड़-तोड़ की चतुराई तथा अहंकार के स्थान पर सज्जनता व चरित्र की उच्चता को महिमा प्रदान करना चाहता है।

जैसे-जैसे हम पश्चिमी भौतिकवाद के कुचक्र में फँसते गये हमारा तन, मन उसका गुलाम होता गया। भौतिकवाद की विशिष्टताओं ने हमारे अंदर के इंसान को मार दिया। आज हमारे अंदर व्याकुलता है अकुलाहट है हम शांति-सुकून, अमन-चैन की हवा में सांस नहीं ले पा रहे हैं। ऐसे दमघोंटू वातावरण से मुक्ति दिलाने व सहृदयता दिखाने वाला-हमदर्द, शांति, सत्य-अहिंसा, भाईचारा, सत्याग्रह, प्रेम से सबको जीतने वाला, मानवता का पाठ पढाने वाला कोई व्यक्ति, विचार है तो वह है- महात्मा गाँधी व गाँधीवाद। भारतीय संस्कृति के उपासक ऋषि, सत्य के अन्वेषणकर्त्ता, अहिंसा के पुजारी महात्मा गाँधी का समग्र जीवन मानवता की सेवा को समर्पित रहा है। महात्मा गाँधी का 'सर्वोदय चिंतन सबके उत्थान की बात करता है। हरेक के दुख-दर्द-पीड़ा को अपना दुख-दर्द-पीड़ा समझने वाला मानव ही सच्चा मानव है- यह कर्तव्य पाठ पढाता है। गाँधी का सर्वोदय चिंतन भौतिक उत्थान की जगह नैतिक, आध्यात्मिक उत्थान की बात कहता है जो कि मुक्ति का मार्ग है। गाँधी के सर्वोदय रूपी शरीर की आत्मा हैं 'वसुधैव कुटुम्बकम', 'सर्वे भवन्तु सुखिन्', 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'। हृदय स्थल है- 'वैष्णव जन तो तैने कहीए जो पीर पराई जाणै रें। आंखे रस्किन के 'अनटू दिस लास्ट' की हैं। गाँधी का सर्वोदय एक कर्मयोगी का कर्मयोग है। गांधीवादी सर्वोदयी चिंतन धारा आगे चलकर समाजवाद के भारतीय संस्करण को जन्म देती है, जिसको लेकर आगे बढने काम जयप्रकाश नारायण व लोहिया जी ने किया। गाँधी जी का सर्वोदय ही वह विचार व उपाय है जिससे कराहती मानवता का दुख-दर्द हरण किया जा सकता है। इसको अपनाकर आचरण करने की जरूरत है क्योंकि सेवा ही कर्म है, धर्म है, ईश्वर भक्ति है व मुक्ति का मार्ग है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचरित मानस-उत्तरकाण्ड' गीता प्रेस, गोरखपुर
२. बलवंत सिंह, 'बापू का आश्रम परिवार', नवजीवन, अहमदाबाद, १९७२, पृ. ५
३. आशुतोष कुमार, ''गाँधी की स्वराज सम्बन्धी अवधारणा'', रूचि त्यागी (संपा.) 'भारतीय राजनीतिक चिंतन प्रमुख अवधारणाएँ एवं चिंतक', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, २०१६, पृ. ३४६

४. आचार्य समंतभद्र, 'युक्त्यानुशासन', श्लोक ६२, इन साइक्लोपीडिया ऑफ जैनिज्म्, ६ दिसम्बर, २०२०, देखा गया ४ अगस्त, २०२४
५. महाउपनिषद्, टप्प७२
६. गरुण पुराण, ३५:५१, तैत्रिरीयोपनिषद्
७. महात्मा गाँधी, 'संक्षिप्त आत्मकथा', सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ७६
८. महामा गाँधी, 'आत्मकथा' नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, १६८७
९. वही
१०. महात्मा गाँधी, 'आत्मकथा', वही, पृ. २०७
११. रामजी सिंह, 'गाँधी दर्शन मीमांशा', बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना, १६७३, पृ. ४१-५६
१२. हिन्दी नवजीवन, ६ दिसम्बर, १६२६
१३. महात्मा गाँधी, 'आत्मकथा', वही
१४. भारत कुमारप्पा, 'सर्वोदय' नवजीवन प्रकाशन, १६५६, पृ. प्रस्तावना १
१५. हरिजन, १० फरवरी, १६४०
१६. यंग इण्डिया, २४ नवम्बर, १६२१, पृ. ३८५
१७. यंग इण्डिया, ११ अगस्त, १६२०
१८. हरिजन, १२ नवम्बर, १६३८, पृ. ३२६
१९. महात्मा गाँधी, 'माई रिलीजन', नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १६५५, पृ. ३
२०. रोम्या रोला, 'महात्मा गाँधी', लंदन, १६२४, पृ. २४-४५
२१. हरिजन, २४ दिसम्बर, १६३८, पृ. ३६३
२२. यंग इण्डिया, भाग-२,३, पृ. २६६, १८४
२३. यंग इण्डिया, ११ अक्टूबर, १६२८
२४. सम्पूर्णानन्द, 'इण्डियन सोशलिज्म', एशिया पब्लिशिंग हाउस, १६६१, पृ. १
२५. विनोवा भावे, 'सर्वोदय विचार और समाजशास्त्र', अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ, बनारस, १६६१, पृ. ५७
२६. विनोवा भावे, 'भूदान गंगा', वही, १६५७, पृ. १७४
२७. वही, पृ. १५५-१५६
२८. दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन' सर्व सेवा संघ वाराणसी, १६८५
२९. वही, पृ. १६
३०. बी.एम. शर्मा व अन्य 'भारतीय राजनीतिक विचारक', रावत पब्लिकेशन, २०१९, पृ. ३६८
३१. जयप्रकाश नारायण, ए पिक्चर ऑफ सर्वोदय सोशल आर्डर अखिल भारतीय सेवा संघ, तंजौर, १६५५, पृ. ६
३२. वही

३३. इस्लाम अली, ''राम मनोहर लोहिया'', अजय कुमार, इस्लाम अली (संपा.) 'भारतीय राजनीतिक चिंतन संकल्पनाएं एवं विचारक', डार्लिंग किडरस्ले (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड, २०१२, पृ. २६८
३४. वही
३५. वी.एन. टण्डन, 'द सोशल एण्ड पोलिटिकल फिलासफी ऑफ सर्वोदया आफ्टर गाँधी', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १६६५, पृ. २००-२०१
३६. वी.पी. वर्मा, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, १६८६, पृ. ३६१

**-असिस्टेंट प्रोफेसर-राजनीति विज्ञान**
**सहकारी पी.जी. कॉलेज,**
**मिहरावां, जौनपुर**

⊙

# बाजारवाद में आइने में समकालीन हिन्दी कविता

–डॉ० अजय कुमार

**"महगाई के मारे विरह बिसरि गयों**
**भूलि गई कजरी कबीर।**
**देखि कै गोरी के उगसो जुबनवा**
**उठै न करेजवा में पीर।।"**

वैश्वीकरणअपनी चमक-दमक दुनिया चारों ओर बनाये हुए है। जब से बाजारवाद आयातो लोगों के देखनें का नजरिया बदल गया। बाजार ने लगभग सभी को प्रभावित किया फिर चाहें वह दर्शन हो या, साहित्य या भाषा हो। बाजार ने व्यक्ति को नये दृष्टिकोण प्रदान किया है। ऐसा नहीं हैं कि दुनिया में पहली बार वैश्वीकरण के दौर में ही बाजार आया। बाजार सदा से रहा है। हाँ उसके स्वरूप में समयानुसार परिवर्तन अवश्य हुए। उसके नियम-उप नियम बदलते रहें। व्यक्ति है तोबाजार की उपादेयता है। व्यक्ति अपने रोजमर्रा की सामग्री लाने बाजार ही जायेगा। आज बाजारवाद का समय है। आज हर व्यक्ति और वस्तु को अपनी उपयोगिता को सिद्ध करना है। यदि वह बाजार के साथ कदम-कदम मिलाकर चल सका तो वह सफल व्यक्ति कहलायेगा। वर्तमान समय में व्यक्ति को दिन-प्रतिदिन अपने आपको अपडेट रखना होगा। क्योंकि यदि आप समय से अपडेट नहीं होगें तो बाजार आपको पीछे छोड देगा और आप आउटडेटेड घोषित हो जायेंगे। इसलिए जरूरी है कि समय रहते अपने आपको बाजार के तकनीकी तन्त्रों और संचार के माध्यामों सें अपडेट रख जाये।

सन् १९६० के बाद की कविता को समकालीन कविता कहा जाता है। जब देश स्वाधीन हो गया तब जनता के सामने यक्ष प्रश्न था कि देश का विकास कैसे हो और आपसी सम्बन्धों को कैसे मजबूत बनाये रख जायें। ये सावल शासक और जनता को समय-समय पर कचोटते रहते रहे। क्योंकि हमारे सम्मुख सबसे बडी चुनौती यह थी कि हम अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों को कैसे मधुर बनाये रखे। उद्योगों के उदय के साथ उसके दुष्प्रभावों ने समाज को घेरना शुरू किया। बाजार की व्यवस्था ने आम आदमी के जीवन को कुंठा, हताशा से भर दिया। जिसके फलस्वरूप आम आदमी का शहरों की ओर पलायन बढ़ा। इस दशा को समकालीन कवि ने कविता में चित्रित किया। रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, कुंवरनारायण,

लक्ष्मीकांत वर्मा तथा श्रीकांत वर्मा, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकांत देवताले, बलदेव बंशी, प्रयाग शुक्ल, मलयज, नीलाभ, राजेश जोशी, उदय प्रकाश, मंगलेश डबराल, विष्णु खरे तथा अन्य कवियों ने अपनी कविता में आम आदमी के दर्द को बाखूबी चित्रित किया-

**''बाजारों की तरफ भी**
**नहीं, कुछ खरीदने के लिए नहीं,**
**सिर्फ देखने के लिए कि इन दिनों**
**क्या बिक रहा है किस दाम**
**फैशन में क्या है आजकल''[1]**

समय के साथ-साथ बाजार का स्वरूप वदलता गया और क्षेत्रीय बाजार अब विश्व बाजार में तब्दील होता गया। बाजारवाद ने समाज के जताने-बाने को परिवर्तित कर दिया। जिसके फलस्वरूप आपसी सम्बन्धों को देखने-परखने का नजरिया बदल गया। बाजार ने आम आदमी के संस्कृतिक वैभव का लगभग खतम कर दिया। वह विवश हो गया अपने आस-पास के परिवेश से। क्योंकि वह जब भी अपने आस-पास के परिवेश को देखता तो उसे समाज, सहित्य, भाषा और संस्कृति पर बदलाव नजर आता। समकालीन कवि ने इस खतरे को भांप कर वैश्वीकरण के प्रति लोगों को सचेत करना शुरू कर दिया। आज की कविता में बाजार का यह प्रतिरोध देखने को मिल जाता है-

**''वे कुछ भी खरीद लेते हैं बाजार**
**बाजार उनका आदी है,**
**सरकार में उनकी दरकार है।**
**पैसे वाले सब कुछ जीत लेते हैं**
**हारने वालों से''[२]**

निःसन्देह बाजार हमारी जरूरतों को पूरा करने का वह स्थान है जहाँ हम वस्तुओं का खरीद और बेंच सकते हैं। बाजार का आकर्षण व्यक्ति को मानसिक गुलाम बना रहा है। जब ऐसा दृश्य सामने आता है वो डर लगने लगता है। हम जरूरत के बिना बाजार की चमक-दमक में फंस जाए तो वह असंतोष, तृष्णा और ईर्ष्या से घायल कर हमें बेकार बना सकता है। समकालीन कवि इसी बेहया बाजार के प्रभावों को अपनी कविता में व्यक्त कर रहा है-

**कलम छोड़ दो मेज पर, कागज रख दो द्वार।**
**सारी दुनिया जा रही, कवि जी चलो बाजार।''३**

आज कदम-कदम पर बाजार का प्रभाव देखने को मिलता है। एक गरीब से गरीब आदमी और धनी से धनी आदमी दोनों बाजार के आधीन हैं। आज बाजार हमारी

सभ्यता-संस्कृति, जीवन मूल्य और परम्पराओं को तय कर रहा है। दुनिया के देशों में आपस में होड लगी कि हम अपनी बाजार को कितना सशक्त बना ले जिससे कि हमार प्रभाव पूरी दुनिया पर दिखाई दे। आज प्रत्येक आदमी के सिर परबाजार का आकर्षण बोलता रहा है। सभी बाजार की ओर उन्मुख हैं। बाजार भले ही छद्म रूप से लूटता है पर इससे किसी को परवाह नहीं-

**"दुकान दर दुकान**
**छूट के प्रतिशत की गुहार लेकर**
**पूरी साँझ दौडकर जुटाई रसद**
**मुझे झोले के फटने का डर रहता था**
**बाजार के उठ जाने का**
**या सस्ती तरकारी के न लि पाने का।"[४]**

बाजार व्यक्ति को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए अपने उत्पाद की सजावट, रंग, और विज्ञापन तथा भाषापर विशेष बल देता है। क्योंकि वह जानता है कि 'जो दिखता है वही बिकता है'। बाजार अपने चश्में से वह भी दिखाता है जो हकीकत में वैसा नहीं होता है। फिर आदमी असमंजस की स्थिति में पड जाता है। कि वो क्या करे? और क्या न करे ?। बाजार ऐसा सम्मोहन पैदा करता है कि हम तय ही नहीं कर पाते कि बाजार के बारे में हम सोच रहे हैं या बाजार हमें सोचने के लिए विवश कर रहा है। वैश्वीकरण के प्रभाव से आज आदमी भी एक वस्तु बन गया है-

**"एक सुबह उठा और पाया**
**सारी दुनिया बन चुकी है बाजार**
**सब बाजार की भाषा बोल रहे हैं**
**केवल क्रेता-विक्रेता बचे हुए हैं**
**लोग मेरे साथ इस तरह का**
**बर्ताव कर रहे हैं जैसे**
**मैं कोई वस्तु हूँ।"[५]**

बाजारवाद मनोवैज्ञानिक रूप से हमारे मानस पर गहरा प्रभाव डाल रहा है। जिसके कारण हमारे मानवीय मूल्यों का ग्राफ तेजी के साथ गिर रहा है। और हमारी सम्वेदनायें सिकुडती जा रही हैं। बाजार का अपना सिद्वान्त है। यहाँ प्रत्येक वस्तु बेची और खरीदी जाती है। बाजार ने समाज में यदि किसी को सबसे ज्यादा प्रभावित किया तो वह आम जन-जीवन के साथ स्त्री को। पुरूष प्रधान समाज स्त्रीकी छवि गढता रहा है। प्रत्येक युग में स्त्री छवियाँ

बदलती रही। २१ वीं सदी में स्त्री जब अपने आपको रोटी-रोजगार से जोडने लगी तो वह अपनी पुरानी छवि से बाहर निकल कर आई। वह वह महज मात्र एक आदर्श बहू ही नहीं रही अपितु वह आजद भारत की एक आत्मनिर्भर स्त्री के रूप में अपनी छवि को परिवर्तित किया उसका प्रयास रहा कि उसे उसके कार्य से पहचाना जाये। बाजार ने स्त्री को विज्ञापन के जरिये व्यवसाय से जोडा। उसको जीविकोपार्जन के अनके अवसर उपलब्ध कराया। जिसके फलस्वरूप बाजार नें स्त्री और उसके सौदर्न्य का व्यवसायीकरण किया। आज विज्ञापनों में स्त्री की बहुत बडी भूमिका है। विज्ञापनों का उद्देश सामान बेचना होता है। विज्ञापन के जरिए क्रेता को लक्ष्य किया जाता है। कभी स्त्रियाँ खुद लक्ष्य होती है तो कभी पुरूषों को भी लक्ष्य बनाया जाता है। समकालीन कविता में स्त्री की इन छवियों को चित्रित किया गया-

**''खरीदनी है अगर दवा देखें स्त्री को**
**दर्द से ज्यादा असरदार है उसकी कमर**
**तेल से ज्यादा सुन्दर है**
**केश कपडों से ज्यादा देह**
**देखें चमकीली आँखें चिकनी त्वचा**
**काली करो कल्पना अगर खरीदनी हो गजल''**[६]

बाजारवाद के कारण सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक नैतिक मापदण्ड बदल रहे हैं। व्यक्ति बाजार के हाथों की कठपुतली होकर रह गया है। वह पैसे और पद के लिए दौड़ रहा है। आज पद और प्रतिष्ठा की दुनिया है। आदमी को पद-प्रतिष्ठा के जरिये पहचान मिल रही है। इस अन्तहीन दौड़ ने उसकी संवेदनाओं का गला घोटा जा रहा है। पैसे से रिश्ते-नाते निर्धारित हो रहे हैं। यह संवेदनहीनता और मूल्यहीनता समकालीन कविता में चिंता का कारण बनती है-

**''अनाज की मंडी में**
**जब फेके जा रहे थे**
**बोरे**
**गेहूँ, चना, अरहर की दाल के**
**मैंने देखा एक बूढे कंकाल को**
**जल्दी**
**गिरे दाने बीनते।**
**मन ही मन, मैने प्रणाम किया**
**आज के युग के कणाद को।''**[७]

बाजार के सपने कितने चमकीले हैं। वह अपनी अबोहवा में कितने रंगीन सपनों को दिखाते हैं। आम आदमी उन रंगीन सपनों में इस कदर खोया हुआ हैं कि उसे हकीकत का पता ही नहीं है। वह बाजार की चकाचौध में अपने पारिवारिक सम्बन्धों को भूल बैठा है। वह चाह कर भी हकिकत से रुबरू नहीं हो पा रहा है-

**''बाबू जी ये चश्मा लो,**
**सपने इससे अच्छे दिखते हैं,**
**आँखें में सामाया डर,**
**पनियारी आँखें में किसी की**
**अनचाही छाँव, सब ओझल हो**
**जायेगा इस चश्में से।''**[८]

बाजारवाद के आने से मानवीय संवेदनायें खत्म होती जा रही हैं। और बाजार बढता जा रहा है। आज हम जिससे अपना स्वार्थ देखते हैं। उसी से अपना सम्बन्ध रखते हैं। हमारे सम्बन्धों का दयारा सीमित हो जाता हैं।बाजार ने आम आदमी को एक प्रकार से एकाकी कर देता है। सम्बन्धों को बाजार के आईने से देखा जा रहा है। वर्तमान समय में हमको सब कुछ ठीक नजर आ रहा है। पर यह पूर्ण सत्य नहीं है। हमको बाहरी तौर पर जो दिखाई दे रहा है, उसकी हकीकत कुछ और है। पहले व्यक्ति बाजार की दिशा-दशा तय करता था। और आज बाजार व्यक्ति का स्टेटस तय कर रहा है। बाजार हमें बाता रहा कि हमें समय के साथ कैसे तब्दील होना चाहिए-

**''मुझें तेज प्यास लगी है**
**और बाजार**
**पानी की शुद्धता के पैमाने बता रहा है।''**[९]

बाजारवाद का खतरा हमारे सामने है।और यह न साहित्य मात्र में वरन सम्पूर्ण दुनिया को प्रभावित किया है। बाजारवाद ने अपने प्रभाव को कुछ इस कदर बढाया कि पूरी दुनिया को उसकी जरूरत बन गयी।सहित्य हमें समय-समय पर बाजारवाद के खतरों से सचेत करता रहा है।समकालीन कविता इस खतरे को बता रही है। समकालीन कवित को चिंता है कि केवल पैसे जनित मान्यताओं और संवेदनाओं से समाज का भला नहीं होने वाला। यह कविता खतरों को व्यक्त कर हमें सजग कर रही है, साथ ही हमारी प्राचीन संस्कृति एवं परम्परागत मूल्यों का वैश्वीकरण के खतरों को भी बता रही है-

**''बाजार से हम बच नहीं सकते**
**और जो राहें निकाली**

**पूर्वजों ने**
**राहे जो मंगल भरी है**
**उन अलक्षित रास्तों से**
**हट नहीं सकते**
**बाजार से भी बच नहीं सकते।''**[१०]

बाजारवाद ने व्यक्ति को अपनी चमकीली कैद में कुछ इस प्रकार कैद कर लिया है कि वह व्यक्ति उसी चमकीली कैद में रहने के लिए अभिशप्त हो गया है। आज व्यक्ति अपनी हर जरूरतों की पूर्ति बाजार से करने के लिए मानसिक रूप से तैयार हो जाता है। वैश्वीकरण के कारण जो बाजारूपन दुनिया में व्याप्त है, उसके चपेट में हर देश है। आज अगर न्यूयार्क में कुछ सड़ेगा तो उसकी सड़ांध अपनी गलियों में फैलेगी। वैश्वीकरण ने देशों के बीच की दूरी मिटा दी। बाजारवाद के कारण हमें नित्य नियमों में बदलाव देखने को मिल राहा है। आज हर व्यक्ति जाने-अनजाने में बाजार के सबसे करीब आ गया है-

**''बाजार को दूर से देखने पर भी लगता है डर**
**मेरा घर तो बाजार के इतने पास है**
**कि उजड़ी हुई दुकान नजर आता है।''**[११]

समकालीन कवि बाजार एवं वैश्वीकरण के खतरों के प्रति आगाह करके समाज को बचाने में लगा है। वह बाजार एवं वैश्वीकरण का यथार्थवादी रूप पाठक को दिखा रहा है। अपनी कविता और बाजार की टक्कर को बता रहा है।

**''अब यह कैसे बताऊँ**
**लेकिन छिपाऊँ भी तो क्यों**
**कविता और बाजार की हल्की सी टक्कर**
**रोमांचित करती है मुझे।''**[१२]

वर्तमान समय में बाजारवाद ने हमारी परम्पराओं, संस्कृति,मूल्य, एवं रिश्तों को प्रभावित किया है। आज हम अपनी पहचान बचाने का संकट झेल रहे हैं। कभी पूरी दुनिया में हमारी परम्पराओं, संस्कृति का डंका बजता था। ये वही हिन्दुस्तान है जो पूरी दुनिया को एक से बढकर एकरत्न दिये हैं। वैश्वीकरण के खतरों से बचने के लिए कविता ऐसे मनुष्यों की तलाश कर रही है जो अपनी चेतना से अपने आपको संचालित करें नकि बाजार से। आज हम अपनी प्राथमिकतायें अपनी जरूरतों के हिसाब से तैयार कर रहे हैं। आज बाजार का खुमार इस कदर

छाया हुआ है कि प्रत्येक चीज बिकाऊ हो गयी है। बाजार के चलते हमारी संस्कृति, परम्परा, नात-रिश्तेदार, सबके पैमाने बदल रहे हैं। हमारी प्रकृति इतना मूल्यवान है कि वो हमें संरक्षित करती है। हमारे तीज-त्योंहरों में बाजार कितनी तेजी के साथ समाहित हो राहा है। पहले के समय जब ससुराल से बेटियाँ आती थीं तो उनसे उनका हाल-चाल पूरा गाँव-मुहल्ला लेता। मगर आज सभी बाजारवाद की चपेट में हैं। किसी को किसी से मिलने-जुलने की फुर्सत नहीं है-

**"बाजार में सब कुछ बिकाऊ है**
**बिकाऊ है हमारी मूल्यांवान खनिज सम्पदा**
**बनौषधियाँ और दुर्लभ बगीचे, दरखत मैदान और जलाशय**
**ये सब और सब कुछ बिकाऊ है,**
**हमारी युव और विवाह योग्य लड़कियाँ**
**बिकाऊ है हमारी बोझिल पुरातन कबीलाई जडें।**
**जिन्होंने हमारी तरक्की के चक्कों को जकड रख है।**
**बिकाऊ है हमारा स्वाभिमान हमारी मान्यताएँ ,हमारी संस्कृति,**
**हमारी लज्जा भाव,**
**हमारी सामूहिक चेतना।"**[१३]

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि बाजारवाद के खतरों को समकालीन हिन्दी कविता ने बडी सिद्दत से उठाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा कि हिन्दी साहित्य का इतिहास हमारी संचित चित्रबिंब का इतिहास है। अर्थात हमारी दृष्टि में जो कुछ भी संचित हो रहा है वह हमारे परिवेश और समाज में समाहित है। लेकिन बाजारवाद के आ जाने से हमारी समूची दृष्टि बाजारवाद के पैतारों पर ही टिकी रही। समकालीन हिन्दी कविता ने समाज में बाजारवाद के पडने वाले दुश्प्रभावों को विस्तृत फलक पर रेखंकित किया है। हमारे रीति-रिवाजों को बाजारवाद ने लील लिया है। पहले जो हम प्रकृति रूप से सम्पन्न हुआ करते थे तो आपसी भाईचारा था। कोई मेन-मीख नही थी। आज शादी-विवाह में दिये जाने वालो नेग-न्यौछावर में लोग ब्रान्ड खोजने लगे हैं। आज "लिंग, चरित्र, दृष्टिकोण, विचारधारा, सामाजिक, हैसियत, जीवन जीने का तरीका सब कुछ ब्रान्ड पर आधारित हैं। बाजार की यह एक स्वाभाविक गति है। जिसे मोड़ने में व्यक्ति असमर्थ है।"[१४] जितनी भी चीजें संचलित हैं उनमें बाजार घुसा हुआ है। समकालीन हिन्दी कविता में बाजार और बाजारवाद के समुचित प्रभावों को व्यापक रूप से उठाया है। और उनके खतरों के प्रति आगाह किया है। यदि हम समय रहते नहीं चेते तो आने वाले समय में बाजारवाद के प्रभाव और भयानक होगें।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. कुंवर नारायण-प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण २००८, पृ० सं० १८५,

२. नवीन सागर-नींद से लम्बी रात, आधार प्रकाशन, पुचकुला हरियाण, संस्करण १९९६, पृ०सं०४१,

३. केदार नाथ सिंह-तालस्ताय और साइकिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००५ पृ०सं०१००,

४. अमित तिवारी-सदनीरा,वेब पत्रिका जुलाई २०१९ (भयमय जीवन, भयमय प्रेम) कविता से,

५. स्वप्निल श्रीवास्तव-पल प्रतिपल, अंक-४२, पृष्ठ-१६९,

६. अनीता वर्मा-एक जन्म में सब राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण २००३ पृ० सृ०-२५।

७. कैलास वाजपेई, भविष्य घट रहा है। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली संस्करण-१९९९ पृ०सं०-२३

८. शक्ति महांति-सदनीरा पत्रिका जुलाई २०१९ (फेरीवाला कविता से)

९. परमेन्द्र सिंह-कोई भी अंत अन्तिम नहीं, शिल्पायन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स दिल्ली, संस्करण-२०१६, पृ० सं० ८३

१०. प्रताप सहगल-मुक्ति-द्वार के सामने अमर सत्य प्रकाशन दिल्ली संस्करण २०१२, पृ०सं० ८६

११. हेमन्त कुकरेती, आँख, चाँद पर नाव, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००३ पृ०सं०६६

१२. केदारनाथ सिंह-तालस्ताय और साइकिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००५ पृ०सं०८१

१३. सं० उर्मिला मिश्रा-समकालीन हिन्दी कविता और बाजारवाद, मीरा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, संगरिया (हनुमानगढ) २०१०, पृ०सं० ७४

१४. प्रभा खेतान-बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली पेपर बैक संस्करण-२०२१, पृ० सं० २०१



**-एसोसिएट प्रोफेसर-हिन्दी विभाग**
**महामाया राजकीय महाविद्यालय, कौशाम्बी (उ०प्र०)**
**ई-मेल-dr.ajaykumarhindi@gmail.com**
**दूरभाष-९४५५६२४३९७**
**पता-चकदादनपुर हनुमान नगर झलवा**
**(निकट जीनियस पब्लिक इण्टर कालेज झलवा)**
**पोस्ट-सूबेदारगंज**
**जिला- प्रयागराज पिन-२११०१५**


⊙

# सूखने चिनार : सैनिक जीवन और गिरते मानवीय मूल्य

–आकांक्षा मिश्रा

मधु कांकरिया का यह उपन्यास सन् २०१२ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। यह उपन्यास फौजी जीवन की त्रासदियों का सच उजागर करता है। इस उपन्यास में आतंकवाद एवं इसके पीछे छिपी आमनवीयता का खुल्लम-खुल्ला चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में अन्धविश्वास, अशिक्षा, बेकारी तथा भुखमरी से लड़कर जेहादी बनने वाले मुसलमानों का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में फौजी बने अठारह वर्षीय संदीप की कथा को प्रस्तुत किया गया है। संदीप 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के मुख्य पृष्ठ पर छपे विज्ञापन 'Nation Needs You' को पढ़ता है, जिसमें युवाओं को आर्मी ज्वॉइन करने की भावुक अपील की गई है कि राष्ट्र को आपकी आवश्यकता है। अठारह वर्षीय युवक संदीप पर फौजी बनने का जुनून सवार हो जाता है। अब वह इंजीनियरिंग कॉलेज में एडमीशन नहीं लेना चाहता है। संदीप को पूरा विश्वास था कि ''जीवन के अधूरेपन से, इस अपूर्णताबोध से उसे छुटकारा मिल सकता है तो सिर्फ फौजी बनकर।''[१]

अठारह वर्ष की अवस्था में माँ-बाप के विरोध के बावजूद आर्मी ज्वॉइन करता है। परिवार को फौजियों के कठोर नियम तथा फौजी जीवन से बेहद नफरत है। उनकी धारणा है कि फौजी बनना अर्थात् शहीद होना।

डॉ० रंजीता परब कहती हैं- ''संदीप मारवाड़ी परिवार से हैं जिनके पुरखों के हाथों में सदा तराजू हुआ करता था। इसलिए सेना में नौकरी करने के उसके फैसले को उसका परिवार सहज स्वीकार नहीं पाता। उनके हिसाब से सेना में जाना मतलब मौत को गले लगाना।''[२]

राष्ट्र सेवा की अदम्य भावना रखते हुए संदीप फौजी जीवन में प्रवेश करता है। फौज में रहकर सीनियसर्स द्वारा की गयी बदसलूकी, आर्मी की टफ ट्रेनिंग, स्क्वाअर अप रैगिंग आदि अमानवीय कुकृत्यों से पता चलता है कि यहाँ मानवीय अनुभूतियों का कोई स्थान नहीं है।

''यह आर्मी है या सॉड, मिलते ही लगा सींग मारने। जिस आर्मी के लिए उसने सबको रुलाया, आज पाँव धरते ही उसने उसे ही रुला दिया। नहीं यह जिन्दगी उसकी नहीं हो सकती, यह तो अजगर की तरह निगल लेगी उसकी तरंगों को, उसके सपनों को उसकी उड़ानों को।''[३]

संदीप हिम्मत नहीं हारता। वह इस उम्मीद में है कि आर्मी मुझे तोड़ रही है, रौंद रही है शायद फिर किसी कुम्भकार की तरह ही मुझे गढ़े। ऐसे में माता-पिता का बार-बार कहना लौट आओ, घर की यादें, घर का खाना लहरों की तरह उसे उद्वेलित करते रहता है।

संदीप की कश्मीर पोस्टिंग के समय माता-पिता का आखिरी शब्द 'लौट आओ' तथा साथ ही पिता की हिदायत- ''देख लेना, फौज में रहकर भी तुम देश के लिए कुछ नहीं कर पाओगे। इन दिनों के अखबार शायद तुमने पढ़े ही होंगे। फौज के ही कई उच्च अधिकारियों को 'सैक' कर लिया दिया गया है क्योंकि उन्होंने खुलकर गृह और रक्षा-मन्त्रालयों की नीतियों का विरोध किया था। इस देश में सेना कुछ नहीं कर सकती है क्योंकि यहाँ सेना के सोचने और बोलने, दोनों पर ही पाबन्दी है और शीघ्र ही परिवर्तन की उम्मीद भी बेकार है क्योंकि इस देश में इन्सानों का कहीं राज है ही नहीं। यहाँ राज है तो कहीं चमचों का तो कहीं तमंचों का। कहीं गधे बैठे हैं तो कहीं लालची गिद्ध।''[४]

उपन्यास में व्यवस्था की क्रूरता को प्रस्तुत किया यगा है। व्यवस्था इन्सान को इतनी संवेदनहीन बना देती है कि उसे मानवीय मूल्यों को विस्मृत कर मजबूरीवश अमानवीय कार्य करने पड़ते हैं।

उपन्यास में 'काला चश्मा' का जिक्र किया गया है। कर्नल आर्य संदीप को काला चश्मा पहनने की जिद करते हुए कहता है सेना में सभ्यता और उच्च कोटि के समाज निर्माण के लिए नहीं आये हैं वरन् आतंकवाद को खत्म करने के लिए भेजा गया है।

''हम यहाँ करुणा, दया, मानवता और सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ने और पढ़ाने नहीं आये हैं। देखो, हमें इस गाँव में एक मिसाल कायम करनी है। इतना डर इस धरती पर बो देना है कि आनेवाले सालों में यहाँ इन्सान तो क्या परिंदा भी मिलिटेंट बनने की न सोचे। हमारा सिर्फ एक ही धर्म है, आदेश का पालन करना, उसके औचित्य पर सोचना नहीं। हम कर ही क्या सकते हैं। जो कर सकती है वह सरकार है। पर सरकार को भरोसा ताकत पर है और ताकत को बन्दूक पर। इन्सान किसी का भी कंसर्न नहीं। इसलिए व्यक्ति मन और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए यहाँ फौज में कोई स्पेस नहीं है।''[५] संदीप से काला चश्मा पहनने के लिए अनुरोध इसलिए किया जाता है ताकि वह अपनी आत्मा को अपने शरीर से अलग रख सके क्योंकि न्याय-अन्याय, इन्सानियत और विवेक ये सारे विचार एक सैनिक के कार्य में बाधित होते हैं। इस सम्बन्ध में कर्नल आर्य का संदीप से कहना है- ''इस चश्मे का काला जादू यह है कि इसको पहनते ही तुम एक प्रकार के हाड़-मांस के रोबोट बन जाओगे। देखो, आज के जमाने में जिसने ये चश्मा पहना, वही सफल हो पाया। सारे नेता, मन्त्री, कॉपोरेट और बिजनेस टाइकून पहनते हैं यही चश्मा।''[६]

मेजर संदीप को व्यवस्था के दबाव में आकर सारे अमानवीय कार्य करने पड़ते हैं जिसकी अनुमति उसकी आत्मा उसे नहीं देती। संदीप की धारणा है कि आतंकी को मारने के पहले हमें इस समस्या पर विचार करना चाहिए कि आखिरकार वे आतंकवादी बनने का चुनाव क्यों करते हैं। संदीप आतंकवादियों को मारना व्यवस्था के विरुद्ध मानता है। उसकी धारणा है कि हमें उन्हें सुधरने का एक मौका जरूर देना चाहिए।

उपन्यास में जानलेवा भुखमरी तथा जिन्दगी की जिल्लत से तंग आकर आतंकवादी बने जमील का सफाया करने का आदेश मेजर संदीप को दिया गया है। संदीप जमील का आत्मसमर्पण कराकर उसको सुधारना चाहता है साथ ही उसके परिवार का सहयोग करना चाहता है। जिस पर कर्नल आर्य का कहना है- ''पागल मत बनो। सफाया करना हमारी पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। बिना जड़ से उखाड़े बात नहीं बनती। आत्मसमर्पण की तो तभी सोचनी चाहिए जब किसी कारण से हम ऐसा नहीं कर पायें। देखो, हमें यहाँ सामाजिक कल्याण के लिए नहीं भेजा गया है। तुम पता लगाओ, क्या है परिवार की वीकलिंग और फिर अपनी स्ट्रैटजी बनाओ।''[७]

संदीप को व्यवस्था के दबाव में आकर मजबूरीवश जमील को मृत्युदण्ड देना पड़ता है। संदीप की आत्मा बार-बार धिक्कारती है कि उसने मानवता का गला घोटा है। मानवीय मूल्यों का उन्नति से सीधा सम्बन्ध होता है अतः ये मानव मूल्य व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए बहुपयोगी माने जाते हैं। लेकिन आज मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। ऐसा लगता है मानव, मानव न रह करके पशु से भी बुरी हालत में पहुँच गया है।

समाज का नेतृत्व करने की जिम्मेदारी जिनके ऊपर है यदि वही भ्रष्ट आचरण करने लगेंगे तो सामान्य जनता से क्या आशा की जा सकती है? आज समाज की दिशा तथा दशा में बदलाव की आवश्यकता है। इस विषय पर संदीप का कहना है- ''आज मुझे लगता है मैं बुद्धू बना दिया गया हूँ। मैंने अपना सब कुछ फौज को समर्पित किया, अपना सुविधा सम्पन्न जीवन, कैरियर, सुख, स्वप्न, रातों की नींद, दिन का चैन, यहाँ तक की अपनी आत्मा की आवाज तक का गला घोंट दिया। हर पल मौत की आहट में जीया। तन-मन-आत्मा सबको लहूलुहान किया। भयंकर मानसिक यातना में जीया। अपने मनुष्य बोध तक को कुचल डाला। मैंने वह सब कुछ किया जो व्यवस्था मुझते चाहती थी और इसी का परिणाम है कि आज मैं न जी पा रहा हूँ, न मर पा रहा हूँ। यही सम्मान है हमारे देश में एक फौजी का।[८]

विकसित देश अपने बहादुर सैनिकों के नाम पर कॉमिक्स निकलते हैं खिलौने निकलते हैं जिससे किशो में सेवा के प्रति सम्मान भावना तथा रुचि पैदा हो, जबकि हंमारे देश की यह स्थिति है यहाँ युवा पीढ़ी अपने जांबाज फौजियों का नाम तक नहीं जानती है। राँची पोस्टिंग

के दौरान संदीप को पता चलता है कि हर फौजी के लिए एक वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट (एनुअल कॉन्फिडेंशियल रिपोर्ट) बनाई जाती है, जिसके आधार पर अफसर की भविष्य में पदोन्नति होती है। इस रिपोर्ट में उनके कार्य, चरित्र, व्यवहार सब पर टिप्पणी लिखी रहती है, जो उसके यूनिट के कमांडिंग अफसर द्वारा लिखी जाती है यानी उसका पूरा भविष्य, माँ-बाप, भाग्यविधाता सभी वह कमांडिंग अफसर। वह खुश तो दुनिया खुश।

संदीप कमांडिंग अफसर द्वारा किये गये अमानवीय व्यवहार को सच्चाइई के साथ अपनी रिपोर्ट में लिखता है-

'''आर्मी के नेता अफसर के भीतर जो भी सुन्दर, शिव और मानवीय है, उसे उजागर करने की बजाय उसे कुचलने में ही अपना योगदान दे रहे हैं। जबकि नेता को एक अच्छे माली की तरह होना चाहिए, जो दे सके अपना योगदान, मनुष्यत्व के पौधे को सींचने में। उसने लिखा था नेता अपनी टीम का वैचारिक कप्तान होता है। नये विचारों, नयी सृजनात्मकता और नये प्रयोगों को जन्म देना उसका नैतिक कर्त्तव्य होना चाहिए। पर दुर्भाग्य से आर्मी के हर सीनियर को तेजस्वी अफसर नहीं, लद्धड़-लक्कड़ ढीकरा चाहिए, जो टनटनाता रहे, नेता की ताल पर, जो प्रश्न न करें, सिर्फ अनुकरण करें, जबकि गीता के इस देश में प्रश्नों और संवादों की एक स्वस्थ परम्परा रही है। स्वयं गीता भी क्या है? कुछ प्रश्न, कुछ जिज्ञासाएँ। आर्मी के नेता को यदि किन्हीं तीन शब्दों से चिढ़ है तो हैं 'क्यों', 'क्या' और 'कैसे'।''[६]

सेना आतंकवादियों का सफाया करने के लिए कई बार छल-कपट का भी सहारा लेती है। उपन्यास में मेजर भूपेश हसन राकी नामक आतंकवादी से फोन पर अक्सर संवाद किया करते थे। दोनों सोचते थे कि आपस में बातचीत करने में क्या बुराई है? मेजर भूपेश का इस विषय में कहना है- ''क्या हर्ज है बात करने में कौन जाने इसी प्रकार बतियाते एक दिन वे उससे आत्मसमर्पण करवा ले और नहीं तो कम-से-कम तोड़ने का मौका खोजते ही रहेंगे।''[१०] इसी वजह से मेजर भूपेश सिंह हसन राकी काो फोन करते हैं तो फोन हसन राकी का मित्र अहमद रशीद नामक आतंकी उठाता है। अहमदरशीद यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है कि फोन आर्मी के यहाँ से आया है। जैसे ही ह फोन उठाता है मेजर भूपेश सिंह समझ जाते हैं कि फोन किसी अन्यय व्यक्ति ने उठाया है और कहते हैं- ''यार कब मरवा रहे हो उसे।''[११]

यह शब्द सुनकर वह दंग रह जाता है कि उसका मित्र हिन्दी सेना से मिलकर उसे मरवाना चाहता है। हसन राकी जैसे ही नहाकर स्नानागार से बाहर निकला। अमहद रशीद उस पर गोली चला देता है और वह मर जाता है। इस घटना से संदीप चिन्तित होते हुए कहते हैं- ''माना यह घटना मेजर भूपेश के प्रजेंस ऑफ माइंड की अद्‌भुत मिसाल है पर क्या यह

छीजते मानवीय विश्वास और टूटते भरोसो की त्रासदी नहीं? विश्वास तोड़ने की एक हल्की-सी चेष्टा और सीधी मौत। आर्मी के लिए भले ही उपलब्धि हो पर मानव सभ्यता के लिए क्या यह हादसा नहीं? जाने क्यों उन्हें लगने लगा है आजकल कि हिंसा की इस बाढ़ में वे शव की तरह बह जायेंगे। वे ही नहीं, पूरी मानवता। हाँ, मैं विचारों और मूल्यों को अहमियत देता हूँ, क्योंकि मैं मानता हूँ कि सभ्यता की इस सुदीर्घ यात्रा में इन्सान ने जो सबसे बेश कीमती इकट्ठा किया है वे विचार और मूल्य ही हैं।''[१२]

मेजर संदीप फौज में प्रवेश कर पाने के बाद ही जान गया कि यहाँ संवेदनाओं का कोई स्थान नहीं है। फौज में हमेशा युद्ध-ही-युद्ध होता है। वहाँ समाज और मानवता का कोई स्थान नहीं है। एनकाउण्टर और मिलिटेण्ट का हमला हमेशा चलता रहता है। इन सब के बीच संदीप का मन विचलित होता रहता है। इसीलिए उनके सीनियर अफसर ने उसे यह उपदेश दिया है कि यहाँ हमें सिर्फ अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए सोचना है दुनिया के लिए नहीं। वहाँ फौजियों को मिलिटेण्ट से दोस्ती भी करना पड़ता है। ऐसे षड्यन्त्र से उन मिलिटेण्ट को आपस में लड़ाकर मार डालते हैं। फौज में फैले षड्यन्त्र एवं जीवन की विद्रूपताओं का सही पड़ताल इस उपन्यास में मिलता है।

सेना का एक ही उद्देश्य है वह है आतंकवाद का सफाया करना। इसके लिए चाहे कोई भी तरीका क्यों न अपनाना पड़े। चाहे छल-कपट हो या ईमानदारी। उन्हें सिर्फ आतंकवाद को खत्म करना है। इस विषय में संदीप का कहना है- ''हमें यहाँ भेजा गया है मिलिटेण्ट का सफाया करने के लिए और उसे हमें पूर ईमानदारी से करना है। कैसे करना है, कपट से या धोखे से, नैतिकता से या अनैतिकता से, धर्म से या अधर्म से, यह सोचना हमारा काम नहीं है। हम कर भी क्या सकते हैं? हम तो सामूहिक भविष्य और नियति से बँधे हुए हैं। पूरे सिस्टम के नट और बोल्ट। आर्मी में सिस्टम महत्त्वपूर्ण है, व्यक्ति नहीं। बस सिस्टम चलता रहे।''[१३]

उपन्यास में बताया गया है कि फौज में जवान पवित्रता तथा संकल्प के साथ दाखिल होते हैं। अपने अन्तिम सांस तक बहादुरी के साथ, खून के अन्तिम कतरे तक वीरता के साथ अपना काम करते हैं, लेकिन आज देश में उनका कोई नामोनिशान नहीं है। आज यह आलम है कि देश के लिए सैनिक अपनी जान-न्योछावर कर दे रहे हैं लेकिन उनको भी वेतन वृद्धि के लिए आन्दोलन करना पड़ता है। आज दशा ये है कि नेशनल डिफेंस अकादमी में सीटें खाली पड़ी हैं जबकि एक समय था कि एन०डी०ए० में भर्ती होना बेहद मुश्किल था।

संदीप को आज अपनी जिद्द पर अफसोस हो रहा है। आज वह अपराध भावना का शिकार हो गया है। उसे लगता है कि जेहादी जमील का सफाया कर मैंने सम्पूर्ण मानवता को

अपमानित किया है। मैं स्वयं अपने ही हाथों अपने भीतर के ईश्वर को मार डाला। संदीप का कहना है- ''हम सभी एक पतनोन्मुख समाज में जी रहे हैं। ऐसा समाज जिसकी संवेदनाएँ मर चुकी हैं। आर्मी भी तो उसी समाज का हिस्सा है। कई बार मैं स्वयं को मानवीय नियति का दार्शनिक जामा पहनाकर सान्त्वना देने की कोशिश करता हूँ। मैं स्वयं को यह समझाने का प्रयास भी करता हूँ कि मानवव जीवन सम्पूर्ण कभी नहीं होता। आन्तरिक अधूरापन बना ही रहता है। महाभारत युद्ध के बाद कुरुक्षेत्र विजेता भी उल्लसित नहीं थे। उन्हें भी लग रहा था कि सब ठीक नहीं हुआ है, कहीं धोखा हुआ है।''[१४]

संदीप कहता है मैंने आर्मी ज्वाइन की थी- अमन, मोहब्बत, करुणा, सह-अस्तित्व और इन्सानियत के अर्थ को समझने के लिए। अब संदीप को यह एहसास होने लगा है कि आदमी अपने परिवेश के सात जुड़कर रहे तभी वह इन्सान बनकर जीवित रह सकता है लेकिन यही आज सबसे अधिक खतरे में है।

संदीप इस निर्णय पर पहुँचता है कि उसे फौजी जीवन से त्यागपत्र दे देना चाहिए इसके लिए वह अपने सभी वरिष्ठ अफसरों, रक्षा मन्त्रालय, यहाँ तक की राष्ट्रपति से भी अपील करता है कि मुझे फौज से मुक्ति दिला दीजिए जिससे मैं साधारण जीवन जी सकूँ, लेकिन संदीप की गुहार नहीं सुनी जाती, बल्कि यह कहा जाता है कि अनुबन्ध की शर्त के अनुसार फौजी जीवन के २० वर्ष पूरे नहीं हुए हैं। संदीप कहता है- ''मैं अपने को यहाँ हर पल मिसपिट पाता हूँ। छोड़ना चाहूँ तो इसकी इजाजत नहीं और रहना चाहूँ तो जिस पाशविकता की मुझसे उम्मीद की जाती है, वह मुझमें है ही नहीं। जिस मानसिक पवित्रता और मिशन के साथ मैं यहाँ आया था, उसकी यहाँ कोई कद्र ही नहीं, कद्र तो दूर की बात उसे कोई समझने तक को तैयार नहीं। और तो और मेरी छटपटाहट के पत्रे को परिधि में बाँधने को तैनात है। दम घुटता है मेरा यहाँ।''[१५]

## निष्कर्ष

फौजी देश की सुरक्षा एवं रक्षा करता है और उसे बाहरी खतरों से बचाता है। देश के रक्षक को नयी पहचान दिलाने के साथ इनमें मानवीय मूल्यों और सामाजिक संदवेदनाओं को जीवन्त रखने की आवश्यकता है। फौजियों में मानवीय मूल्य के ह्रास को रोकना आवश्यक है क्योंकि यह मनुष्य को उन्नति की ओर प्रेरित करते हैं, लोकमंगल तथा जनकल्याण की भावना विकसित करते हैं, इसके द्वारा समाज सुसंस्कृत, सभ्य और परिष्कृत होता है साथ ही राष्ट्र की समृद्धि में सहायक होते हैं। फौजियों को समय-समय पर सम्मानित करने के साथ-साथ उनके सुख-सुविधाओं, वेतनवृद्धि आदि में बढ़ोत्तरी करने की जरूरत है। समाज में फौजियों

के जीवन को प्रेरणास्रोत के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे समाज के लोगों में इनके प्रति सम्मान बढ़े तथा इनसे प्रेरणा ले अपने जीवन को नयी दिशा प्रदान कर सके।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. कांकरिया, मधु, सूखते चिनार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ८
२. परब, रंजीता (डॉ०) स्त्री विमर्श : मधु कांकरिया का कथा साहित्य, पृ० ६३
३. कांकरिया, मधु, सूखते चिनार, पृ० १६
४. वही, पृ० ३३
५. वही, पृ० १०६
६. वही, पृ० ६८
७. वही, पृ० १०२
८. वही, पृ० १२४
९. वही, पृ० ७१
१०. वही, पृ० ७८
११. वही, पृ० ७८
१२. वही, पृ० ७६
१३. वही, पृ० ८०
१४. वही, पृ० १२५
१५. वही, पृ० ८०



**-शोधछात्रा (हिन्दी-विभाग)**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**
**ई-मेल-priyaom01012001@gmail.com**
**मो. : ६३९२४२६६६०**

# स्त्री-विमर्श का बृहद् आख्यान : आवां

–डॉ० मजीद शेख

उपभोक्ता संस्कृति के चंगुल में फंसी स्त्रियों की समस्याएं, स्त्रियों के बहुविध उत्पीड़न, श्रमिक संघर्ष, श्रमिक राजनीति के अंतर्विरोध, पूंजीपति वर्ग के शोषण, राजनेताओं के छल-छद्म, जातिवाद, दलित समस्याएं आदि मुख्य विषय इस उपन्यास में चित्रित हैं। 'आवां' उपन्यास में व्यवस्था के खोखलेपन पर करारा व्यंग्य हैं। इस उपन्यास में कई कथाएं एवं उप-कथाएं हैं, जिसके माध्यम से युगीन समय में व्याप्त समग्र विसंगतियों पर जमकर प्रहार किया गया हैं। लेखिका का मुख्य लक्ष्य केवल शोषित, उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति न होकर त्रस्त लोगों को शोषण के विरुद्ध मुखर आवाज उठाने के लिए प्रेरित करना भी रहा हैं। इस उपन्यास में शोषण के पूरे माध्यमों एवं मूल्यों का पर्दाफाश किया गया हैं। आम मनुष्य को सक्रिय बनाने हेतु आवां' को एक हथियार के रूप में प्रयोग किया हैं। वर्तमान समय में उपभोक्तासंस्कृति का बोलबाला बढ रहा हैं, और इसके गिरफ्त में निम्न-मध्य वर्ग आ रहा हैं।

## व्यक्तित्व

सुपरिचित कथा-लेखिका चित्रा मुद्गल का बृहद उपन्यास आवां' स्त्री-विमर्श का बृहद आख्यान है। आवां' का बीज चाहे मुंबई ने रोपा, लेकिन खाद-पानी उसे हैदराबाद से मिला और श्रमिकों के शहर कोलकाता में बैठकर वह लिखा गया। तो दिल्ली ने आधार कैंप का काम किया। इस रूप में यह लगभग पूरे भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व करनेवाला हिंदी उपन्यास है। आवां' का अर्थ है-मिट्टी के बर्तन पकाने का भट्टा। चित्रा मुद्गल के शब्दों में, 'मैं अपनी अम्मा के मुंह से यदा-कदा सुनती रही हूं- 'मां की कोख, कुम्हार का आवां'। यानी कि, जिस अतिरिक्त सार संभाल की आवश्यकता स्त्री की नाजुक कोख और कुम्हार के 'आवां' के लिए होती है, उसकी उपेक्षा अनपेक्षित परिणाम का कारण बन सकती है। यह भी कि दोनों के भविष्य के विषय में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता।"[१] चित्रा जी का व्यक्तित्व निरंतर परिवर्तनशील रहा हैं, ''चित्रा आज में जीती है। और आज जो आज में जीते हैं, उन्हें समझना बहुत कठिन हो जाता है, क्योंकि वे आज वह नहीं रहे जो कल थे, और जो आज हैं वह संभवतः कल नहीं होंगे।"[२] 'आवां' पर उन्हें वर्ष २००३ में व्यास सम्मान' मिला था।

## आवां उपन्यास की रचना-प्रक्रिया

चित्रा जी ने व्यास सम्मान का स्वीकार करते समय जो भाषण दिया, उसमें आवां' लिखने का कारण स्पष्ट किया है। २८ सितंबर, १९९१ की सुबह जब वे अखबार पढ रही थी, तब उन्होंने यह देखा कि छत्तीसगढ के श्रमिकों के मसीहा शंकर गुहा नियोगी की हत्या हो गई। अचानक उन्हें महसूस हुआ कि अपनी उंगलियां ठंडी और सुन्न हो रही हैं। अखबार उनकी पकड से छूटकर गिर गया है। उन्होंने सोचा कि यह हत्या नियोगी की हत्या नहीं, संघर्ष को निष्क्रिय बनाने की है। वंचितों, दलितों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया जाता है। असल में उसका जाति और धर्म नहीं होता। इस संघर्ष की हत्या ने वर्षों पहले के लेखिका के ट्रेड यूनियन संबंधी अनुभवों को जगाया। उस वक्त तक उन्हें उन अनुभवों को रचना में परिणत करने का विचार नहीं था, लेकिन उपयुक्त वातावरण पाकर वे अनुभव आवां' जैसे बृहद उपन्यास में परिणत हो गए। आवां' लिखने से पहले उस समय जीवित देश के शीर्षस्थ श्रमिक नेता दत्ता सामंत से जो उनके गुरू थे, विषयवस्तु और दृष्टि को लेकर गहरी चर्चा हुई। उपन्यास लिखने के लिए साढे छह वर्ष लग गए। उनके मन की इच्छा थी कि सबसे पहले दत्ता सामंत को उपन्यास को सौंप देना है, पर दुर्भाग्य की बात यह हैं कि उपन्यास पूरा होने के पूर्व ही दत्ता सामंत की हत्या हुई यानी और एक संघर्ष की हत्या। लेकिन इसके पूर्व ही उपन्यास में अन्ना साहब की हत्या हुई थी। उसका तात्पर्य यह हैं कि उपन्यास के मजदूर नेता अन्ना साहब छत्तीसगढ के श्रमिकों के मसीहा शंकर गुहा नियोगी ही हैं।

## श्रमिक आंदोलन और मुंबई

मुंबई औद्योगिक महानगरी है। ट्रेड यूनियन की शुरूआत यहां से हुई, एक दौर में वह ट्रेड यूनियन का मुख्यालय था। पूंजीवाद के खिलाफ लडने के लिए निरंतर मजदूर वर्ग संगठित रहा है। औद्योगीकरण के कारण पूंजी का केंद्रीकरण हुआ है। और जहां पूंजी एकत्रित होती है, वहां अन्याय, अत्याचार भी बढता है। परिणाम मजदूर अपने अधिकारों के लिए संगठित होकर संघर्ष एवं विद्रोह करते हैं। आवां' उपन्यास में मजदूरों के संघर्ष की यथार्थ गाथा है। चित्रा जी को ट्रेड यूनियन में कार्य करके जो अनुभव प्राप्त हुआ, वह श्रमिक मजदूर वर्ग की नस-नस को समझने और उसे संजीदगी के साथ अभिव्यक्ति देने में कारगर साबित हुआ है। उन्हें सोमैया कॉलेज में पढाई के दौरान श्रमिक नेता दत्ता सामंत के संपर्क में आकर श्रमिक आंदोलन से जुडने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्रमिक महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागृत करनेवाली संस्था जागरण' से जुडकर वह बीस वर्ष की आयु में सचिव बनीं। जहां उन्होंने महानगर में रहनेवाले झोपडपट्टी के लोगों को बिल्कुल करीब से देखा।

अन्ना साहब जैसे ट्रेड यूनियन के नेता को यहां मनुष्य से ऊपर उठाने का प्रयास हुआ

हैं। गांधीजी ने समाज के उत्थान हेतु अपना समग्र जीवन समर्पित किया, परंतु उनके जीवन में भी कहीं-कहीं विचलन हुआ था। वही विचलन अन्ना साहब की जिंदगी में भी द्रष्टव्य है, लेकिन आजीवन गांधीजी जिस प्रकार देश और समाज के लिए प्रयत्नरत रहे, वैसे ही अन्ना साहब भी। यानी अन्ना साहब जैसे नेता को एक प्रकार से गांधीजी के समकक्ष मानकर ट्रेड यूनियन का महत्त्व उद्‌घोषित किया गया है। भारतवर्ष के इतिहास में ट्रेड यूनियन के स्थान को अंकित करते हुए इसकी आंतरिक वास्तविकता का पर्दाफाश भी इस उपन्यास में हुआ है। ''तर्क-वितर्क को तो अदृश्य हाथों ने सिंघाडे की बेल-सा नोच किनारे फेंक दिया। कभी किसी ने उसके स्त्रीत्व को सराहा ही नहीं।"[३] चित्रा जी के अंतस् में यह भाव-बोध जागा कि स्त्री की क्षमता को उसकी देह से ऊपर उठकर स्वीकार न करनवाले रूग्ण समाज को झकझोर कर जगाना है। आवां' के सर्जन के पीछे लेखिका का यही दृष्टिकोण रहा है। अपितु ट्रेड यूनियन पर केंद्रित राजनीतिक उपन्यास से भी अधिक यह स्त्री-विमर्श का बृहद आख्यान लगता है।

नारी-विमर्श 'आवां' के मूल कथ्य का हिस्सा है। स्त्री पात्रों की काफी भरमार है और प्रत्येक पात्र की अपनी कहानी है जो आज की औरत की स्थिति और सोच का लगभग पूरा दृश्य सामने ले आती है।

## १. नमिता

'आवां' उपन्यास का कथा-विस्तार इक्कीस वर्षीय नमिता पर केंद्रित हैं, जो एक निम्न-मध्य वर्गीय युवती हैं। वह मजदूर यूनियन कामगार आघाडी के महासचिव देवीशंकर पांडे की सुपुत्री हैं। उसे अपने पिता का मजदूर आंदोलन एवं ट्रेड यूनियन की वास्तविकता को करीब से देखने का अवसर मिला हैं। विरोधी देवीशंकर पांडे पर छुरे से हमला करते हैं। किंतु कुछ समय पश्चात वे लकवे के शिकार हो जाते हैं।

नमिता पर पूरे परिवार का बोझ पड़ता है। बाबूजी, मां, छोटे भाई और बहन की देखभाल उसके कंधों पर आ जाती हैं। उसकी पढ़ाई छूट जाती है। घर का काम संभालने के लिए वह श्रमजीवी संस्था में पापड बेलती है, साडियों को फॉल टांकती है और ट्यूशन भी पढ़ाती हैं। कामगार आघाडी के प्रमुख अन्ना साहब उसे यूनियन कार्यालय में नौकरी दिलवाते हैं। परंतु उनके विकृत बर्ताव के कारण वह नौकरी छोड़ देती हैं। वह इन हालात में भी अपना स्वाभिमान खोना नहीं चाहती।

एक ट्रेन यात्रा के दौरान अकस्मात उसकी मुलाकात अंजना वासवानी से होती है। वह आभूषण व्यापार से जुड़ी हुई महिला है। नमिता की समस्याएं देखकर अंजना वासवानी उसको बाबा ज्वैलर्स' में साढ़े तीन हजार की नौकरी देती है और साथ-साथ आभूषण के मॉडलिंग भी कराती है। 'क्रिस्टल' में उनका जन्मदिन मनाती है। नमिता इन सब बातों से अचंभित हो

जाती है। उसकी कई प्रश्नों के समाधान अंजना वासवानी इन शब्दों में करती हैं, 'सोने का खरापन मैं बिना अग्निपरीक्षा के अनुभव कर सकती हूं, नमिता।"४ चिल्ड बियर पीने के मैडम वासवानी का आग्रह नमिता बड़ी शालीनता से नकारती हैं, 'संस्कारों की बात है, मैडम ! संस्कारों के प्रतिपक्ष में खडे होना मेरे लिए सहज नहीं।"[५]

नमिता जब से अंजना वासवानी के संपर्क में आती हैं वह अभावों की दुनिया से एक जादुई दुनिया में आगाज करती है। उपभोक्ता संस्कृति के दबाव में नमिता का मन बहुत जल्द परिवर्तित होता है। मैडम वासवानी के यहां काम करते हुए वह धनाढ्य आभूषण व्यापारी संजय कनोई के संपर्क में आती है। निःसंतान संजय कनोई के प्रेमजाल में वह फंस जाती है। उसके संपर्क में नमिता ऐशो आराम की जिंदगी में डूब जाती है। संजय कनोई का जाल बहुत बड़ा है। परंतु कुछ समय पश्चात नमिता हकीकत समझ पाती है। सच्चाई वह तब समझती है जब संजय कनोई की औलाद की बिन ब्याही मां बनने जा रही है। पवार द्वारा फोन पर मिली अन्ना साहब की हत्या की अचानक सूचना से चक्कर खाकर वह गिर पड़ती है और गर्भस्राव हो जाता है। के. वनजा के शब्दों में, 'लेकिन उसके गर्भ में जो संतान है, वह पूंजीवाद का प्रतीक है। इसलिए उस संतान को जन्म देना नमिता जैसी मजदूरिन के लिए शोभा नहीं देता। अन्ना साहब की हत्या की खबर सुनते ही उसका गर्भ गिर जाता है। उसके गर्भ के गिरने का मतलब है पूंजीवाद से उसका मोचन।"[६] किंतु नमिता के विश्वास दिलाने पर भी संजय उसे मानने को तैयार नहीं। संजय का कहना है कि नमिता ने अपने कैरियर के लिए जान-बूझकर गर्भ गिराया है। आवेश में संजय कनोई अंजना वासवानी की वास्तविक भूमिका भी उजागर कर देता हैं, 'मुझे नहीं गवारा थी ऐसी किराये की कोख! मुझे सिर्फ उस लडकी से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो....पवित्र हो, जो मुझ से प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए मां बने!"[७]

वास्तविकता का विकराल रूप उसके सामने प्रकट होता है। संजय के लिए वह केवल उपभोग की वस्तु रही, संतान निर्माण करनेवाली किराए की कोख मात्र थी। अपितु वह संजय कनोई और खोखले ऐशो आराम की जिंदगी छोडकर श्रमिक आंदोलन में पूरी तरह सक्रिय हो जाने का निश्चय करती है। मध्यवर्गीय आशा-आकांक्षाओं ने थोडी देर के लिए अपने लक्ष्य से उसे भ्रमित कर दिया था, परंतु उपभोक्ता संस्कृति का फरेब तुरंत उसकी समझ में आ जाता है। डॉ.कल्याणमल लोढा लिखते हैं, 'आवां' की सुलगती आग नमिता ने इसी प्रकार शांत की। यह उसके चरित्र का अनोखापन नहीं, यथार्थ में समझौता से अधिक जीवन प्रकृत समाधान है।"[८]

'आवां' में यौन-शोषण, बलात्कार, स्त्रियों की भ्रूण हत्या आदि स्त्री-शोषण के प्रकारों को बडे परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता हैं। 'कुंती मौसी' का पति किशोरी नमिता का कौमार्य भंग

करता है। श्रमिक संगठन के अन्ना साहब जैसे बडे नेता भी नमिता को अपनी अतृप्त कामवासना का शिकार बनाते हैं। स्मिता के पिता मटका किंग अपनी बेटी को भी नहीं छोडता। स्मिता की बडी बहन कई बार गर्भपात करा चुकी है। सौतेले भाई विनोद ने गौतमी का बलात्कार किया। अपनी पत्नी में भारतीय सतीत्व को ढूंढनेवाला छायाकार सिध्दार्थ मेहता का भी कइयों के साथ दैहिक संबंध है। विवाहित संजय कनोई ने भी संतान प्राप्ति के लिए नमिता का इस्तेमाल किया। विवाह के विज्ञापनों में नौकरीपेशा लडकियों को प्राथमिकता देने की बात होती है।

भारतीय समाज-व्यवस्था में विवाह, मृत्यु और इससे संबंधित कर्मकांडों तथा रीति-रिवाजों द्वारा स्त्री की कामुकता (Sexuality) लैंगिकता पर नियंत्रण (Control) करने की पूरी कोशिश है। नमिता को पिता के मृत्यु पर क्रियाकर्म और मुखाग्नि देने का अधिकार नहीं, चूंकि नमिता औरत है। स्त्रियों के लिए यह सब शास्त्र सम्मत नहीं है। इसी प्रकार औरत के लिए शवयात्रा में कंधा देना शास्त्र सम्मत नहीं है। परंतु विमला बेन इस रूढि को तोड देती है। सुनंदा की मैयत विमला बेन अपने कंधे पर टेक लेती है। सोनोग्राफिस्ट मिसेज बतरा सोनोग्राफी करने के बाद हमेशा झूठ बोलती है कि तुम' बेटे की मां बनने जा रही हो' या बच्चा कमजोर' है, इसलिए बताना कठिन हैं कि लडका या लडकी। गर्भ में लडकी है तो फौरन गर्भ गिराने की बात करती है।

## २. अनीसा

स्त्री कोई भी हो स्वयं वेश्या बनना नहीं चाहती। हालात उसे इस अनैतिक कार्य में धकेल देते हैं। इस चंगुल में फंसने पर फिर वापसी मुश्किल होती है। लगभग सभी स्त्री वेश्याएं इस दुष्कर्म से मुक्त होना चाहती हैं। बडी दिक्कतों के बावजूद यदि कोई बाहर आना चाहती हैं तो समाज उसे स्वीकार करता नहीं। 'आवां' इस उपन्यास में अनीसा' ऐसा ही चरित्र है। घाटकोपर रेल्वे स्टेशन वाली वेश्याओं में से एक थी अनीसा'।

'अनीसा' ने इस अंधकार जीवन से बाहर निकलने का बडा प्रयास किया। उसने वेश्या व्यवसाय छोडकर जयहिंद आयल मिल' में नौकरी आरंभ की है। परंतु उसके पूरे प्रयासों के पश्चात् भी मजदूर उसे देखते ही इशारेबाजी करते हैं। अकेला पाकर कोने में खींच लेते हैं, किरपु दुसाध अनीसा' की इच्छा के बगैर जबर्दस्ती करता है। उसके पेट में सात माह का गर्भ था। नशे में धुत दुसाध ने अनीसा' के राजी न होने पर उसके पेट में लातें लगाई और उसका गर्भपात हो जाता है। परिणाम अनीसा' और बच्चा दोनों की मौत हुई। 'दुसाध की मेहरारू फूला तो अनीसा की क्रूर हत्या के लिए दोषी अपने पति को नहीं, अनीसा को ही साबित कर रही।"[६] बावजूद अधिकांश लोगों की नजरों में अनीसा' ही दोषी थी।

अर्थात् नैतिक मूल्यों से भोगवादी मूल्यों की ओर बढते समाज में नारी शोषण की स्थिति में बढोत्तरी हुई है। सदियों से दबी स्त्री, पुरूष विरोध में, नारी मुक्ति की मांग को यौन स्वेच्छाचार मानकर चलती है। इस कारण वैवाहिक जीवन और परिवार टूटने लगे हैं, अनेक स्त्री-पुरूष विवाह के बगैर साथ-साथ रहने लगे हैं। स्त्री-पुरूष समलैंगिकता, मुक्त यौनाचार, विवाह विच्छेद, आत्महत्याएं आदि का प्रतिशत बडा हैं।

## ३. स्मिता

'आवां' उपन्यास में ऐसे कई पात्र हैं जो पुरूष-विरोध को ही नारी-मुक्ति का आधार मानते हैं। पिता मटका किंग मदन खत्री ने बडी बेटी को ही अपनी काम वासना का जरिया बनाया। इससे क्षुब्ध छोटी बेटी स्मिता ने उसे एक रात सीढियों से गिराकर मार डाला। 'मटका किंग हमेशा की भांति धुत्त होकर बिल्डिंग में घुसा था। हरामखोर के पांव फिसलते ही खोपडी लुढ़के नारियल-सी फट गई। घंटों सीढियों पर अचेत पड़ा खून उगलता रहा।"[१०] 'स्मिता' सभी पुरूषों को उनकी मर्दानगी का सबक सिखाना चाहती है और इसकी शुरूआत वह अपने पिता से ही करती है। स्मिता' के जीवन में पहले शरत' था, अब विक्रम' है। कंडोम के पैकेट से लेकर और भी आवश्यक शिक्षा वह अपने प्रेमी को दे देती है, 'मैं तेरे बच्चे की कुंआरी मां नहीं बनना चाहती और जो लडका कंडोम इस्तेमाल करना नहीं जानता, वह मेरा प्रेमी होने के काबिल नहीं।"[११] स्मिता' साहसी लडकी है। वह आवश्यकता के अनुरूप जीवन-मूल्यों को तोडती भी है। पिता के दुष्कर्म का बदला लेनेवाली स्मिता' अपने व्यवहारिक जीवन में भी संबंधों को उसी दृष्टि से देखती है। डॉ. विजय बहादुर सिंह ने लिखा हैं, 'चित्रा ने जैसे अपना सारा आक्रामक क्षोभ स्मिता में भर दिया है और वह उसका मूर्तिमान प्रचंड रूप बनी बैठी हो।"[१२] स्मिता चुलबुली जरूर है, दिल की साफ है। नशे के ऐब से वह कोसों दूर है। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति की है। लडके-लडकियों में भेद उसे मंजूर नहीं। वह बडे घर की होने पर भी उसकी जिंदगी तनावग्रस्त है। इसका एकमात्र कारण उसका पिता है। एक परिवार को पूर्ण रूप से स्वतंत्र और शांत बनाने में प्रत्येक सदस्य की भूमिका होती है। यहां पिता ने अपने अमानुषिक व्यवहार से पूरे परिवार को बर्बाद कर दिया। स्मिता का पिता मुंबई का मटका किंग है। चर्चगेट से लेकर बोरीवली तक और छत्रपति शिवाजी टर्मिनल से लेकर कल्याण तक इनका अखंड साम्राज्य है। अभावग्रस्त मनुष्यों को पैबंद-टंके सपने उनके मटका दांव की चौपड है। रोज शाम आंकडों के साथ करोडों के वारे-न्यारे खुलते-बंद होते उन दावों को झुठला देते कि किस्मतें ऊपर लिखी जाती है और उन्हें कोई और लिखता है। उसकी मां को वह शारीरिक और मानसिक रूप से निरंतर पीडा देता रहता है। शराब पीकर घर आकर वह सबसे नीच कर्म भी करने में हिचकता नहीं। वह शराबी राक्षस है। उसकी मां ने दो बार अपने देह पर मिट्टी

का तेल उंडेल आंग लगाने का प्रयास किया है। बेटियां अकेली घर में रहने से डरती हैं। उस पिता के लिए पुत्री की देह कामेच्छा की पूर्ति का साधन बनती है। पिता के कारण उसकी दीदी मनोरोगी बन गई थी। पिता को उसका शरीर चाहिए था। असल में वह पिता से पीडित थी। स्मिता ने पिता की मृत्यु के बाद मनोचिकित्सक के द्वारा दीदी की चिकित्सा करवाई और वह सामान्य-सी बन गई। असल में वह पिता का स्नेह और वात्सल्य चाहती थी। उसने हमेशा उसकी आतंकित करती छवि में पिता को खोजा। स्मिता को नमिता के पिता का प्यार देखकर ईर्ष्या होती थी।

### ४. गौतमी

अल्प आयु में ही निकट संबंधियों द्वारा त्रस्त कई स्त्रियां पुरूष विरोध में स्वच्छंद यौनाचार का स्वीकार करती हैं। उनकी सारी स्त्री-चेतना देह के तिलिस्म से बाहर नहीं निकल पाती। गौतमी' से उसके अपने सौतेले भाई विनोद' ने बलात्कार किया। वह गर्भवती हो जाती है। आत्महत्या करने के लिए ट्रेन से कुदने की कोशिश करती है। लैकिन मैडम वासवानी उसे बचाती है। वहीं से उसकी काया पलट जाती है। गौतमी' आभूषण निर्यात कंपनी की प्रबंध निदेशक बनती है। उसके पास धन-दौलत और फ्लैट है। परंतु ये सब उसकी कार्यकुशलता की बनिस्बत न होकर जिस्म के बल पर मिला है। निःसंतान पूंजीपति छेडा साहब के लिए बेटा पैदा किया। आज उनके पास धन-दौलत सबकुछ है, लेकिन उनका परिवार पूरी तरह से विच्छिन्न है। पति की जगह उसे एक अदद कठपुतली नौकर की आवश्यकता महसूस होती है।

### ५. शिप्रा

वर्तमान समय में स्त्री-पुरूष संबंधों में प्रति-हिंसा बढी हैं, स्त्रियां एकजुट होकर रहना अधिक पसंद करने लगी हैं। 'स्त्री-पुरूष संबंधों में प्रतिहिंसा परस्पर इस सीमा तक खिंच गई हैं कि स्त्रियों ने एकजुट हो स्त्रियों के संग रहने की ठान ली।"[१३] फिल्म निर्माता की बेटी कॉलेज में पढनेवाली शिप्रा हिल रोड के गार्सियाना ब्यूटी पार्लर में कामसुख भोगने के लिए जाया करती है। वहां कामसुख प्रदान करने चीनी लडकियां कार्यरत हैं। 'किस पार्लर' में किस हुनर में विशेषज्ञ लडकियां कार्यरत हैं। चीनी और देशी लडकियों की कुशलता में क्या अंतर है। कामसुख' पहुंचाने में चीनी लडकियों के कौशल का जवाब नहीं।"[१४] संजय कनोई की पत्नी निर्मला का कहना है कि, पुरूषों की बनिस्बत कामकला में स्त्रियां अधिक निपुण हैं।

### ६. नीलम्मा

हमारे संबंध आज पूरी तरह से व्यावसायिक बने हैं। लोगों की संवेदना हृदय से नहीं, मस्तिष्क से है। आवां' की महत्वपूर्ण पात्र नीलम्मा' पारिवारिक रिश्तों में भावुकता को स्थान देती है। वह पति के मृत्यु के बाद अपने बच्चों और बूढे ससुर के साथ रहती है। वह विपत्ति

का मुकाबला साहस के साथ डटकर करती है। प्रेमी राघव' और बच्चों के बीच जब चयन का प्रश्न आता हैं तो वह बच्चों को ही चुनती हैं। अमीर स्त्रियों की सेवा-मालिश की अनैतिक कमाई से उसका नैतिक विवेक उसे रोकता है। 'उस दोपहर मंझली मालकिन की मालिश से निपट उसने उनकी सहेली की मालिश की।"[१५] वह आत्मसम्मान से जीना चाहती है। मूल्यों के प्रति सदैव सतर्क नीलम्मा' ये सब छोडकर हैदराबाद में नमिता' की सेविका बनती है। उसका नैतिक विवेक निरंतर भोग-उपभोग की वस्तु बनने से उसे बचाता है। नीलम्मा' पूरी निष्ठा से नमिता' की सेवा करती है। गर्भस्राव के कारण अचानक नर्सिंग होम जाने पर नमिता' का बिल स्वयं भुगतान करती है। स्वयं के जीवन से अनुभूत और नीलम्मा' के स्वाभिमानी व्यक्तित्व से प्रभावित नमिता' में भी चेतना संचारित होती है। भोग-उपभोग की वस्तु बनने से नकार की चेतना वस्तुतः देह से ऊपर उठने की चेतना है। अपितु स्वयं स्त्री को सचेत रहना होगा, यही चेतना उसे श्रृंखला से स्वतंत्रता दिलाएगी। डॉ.विजय बहादुर सिंह के शब्दों में, 'एक तरफ सुनंदा का कुंआरा मातृत्व, दूसरी तरफ हिम्मत से भरा वैधव्य (नीलम्मा) यह संकेत करते हैं कि स्त्री को अपनी ही दुनिया रचनी होगी। पुरूष-वर्चस्वशाली समाज में स्त्री की आजादी स्वाधीनता और स्वाभिमान की कल्पना भी नहीं की जा सकती।"[१६]

## निष्कर्ष

'आवां' में श्रमिक जीवन, श्रमिक आंदोलन और उनके अंतर्विरोध का विस्तार से विवेचन हैं। उपन्यास में घाटकोपर से लेकर कांजूर मार्ग, भांडुप, मुलुंड तक फैली-बस्तियों में रहनेवाले मजदूरों की जिंदगी का खुला और यथार्थ चित्रण मिलता है, जो अति दुर्गंधयुक्त हैं। वहां मनुष्य और सूअर में कोई अंतर नहीं है। उनके महिलाओं और बाल-बच्चों की स्थिति भी भयानक है। श्रमिक अस्थाई नौकरी के कारण त्रस्त हैं। अठारह महीने लंबी खिंची कपडा मिलोंवाली कामगार आघाडी की हडताल के बारे में मैडम वासवानी जैसी उच्च मध्यवर्गीय को घृणा है। मजदूरों ने दस किलोमीटर लंबा मोर्चा निकाला था। उस मोर्चे की लंदन के अखबारों ने खूब तस्वीरें छापी थी। शीर्षक दिया था विश्व का आठवां आश्चर्य' मैडम ने ये टिप्पणी प्रशंसा भाव से नहीं वितृष्णा से की थी। बी.बी.सी. ने खूब मजे लिए। हडताली मजदूरों की भूख से बिलबिलाती औरतें और नंग-धडंग बच्चों को सडकों पर गाडियां रोक-रोक कर भीख मांगते हुए देखा। कुछ घरों में जीवन से ऊबी हताश औरतों ने आत्महत्याएं की। यदि समाज के अन्य वर्ग मजदूरों के संघर्ष को अपने बुनियादी अधिकार की लडाई मानते तो अठारह महीने लंबी वह हडताल कभी विफल न होती। यानी हम निष्क्रिय असंवेदनशील, भावनाहीन समाज का पुर्जा बनकर जीवन व्यतीत कर रहें हैं। अर्थात् बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में लिखा गया आवां' उपन्यास उद्देश्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहा है। नारी विमर्श इस उपन्यास का मुख्य

लक्ष्य रहा है। साथ ही कई उद्देश्यों की स्थापना कथा-लेखिका ने की है। अतः नारी के अहम प्रश्नों को उठानेवाला आवां' उपन्यास अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल रहा हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. सं. करूणाशंकर उपाध्याय, आवां विमर्श, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली (सं. २०१८), पृ. २७२
२. उपर्युक्त, पृ. २७५
३. चित्रा मुद्गल, आवां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (सं. २०१५), पृ. २८३
४. उपर्युक्त, पृ. १९५
५. उपर्युक्त, पृ. ६४
६. के.वनजा, चित्रा मुद्गल : एक मूल्यांकन, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली (सं. २०१६), पृ. ७३
७. चित्रा मुद्गल, आवां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (सं. २०१५), पृ. ५३९
८. सं. करूणाशंकर उपाध्याय, आवां विमर्श, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली (सं. २०१८), पृ. २०
९. चित्रा मुद्गल, आवां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (सं. २०१५), पृ. ३६३
१०. उपर्युक्त, पृ. ३७०
११. उपर्युक्त, पृ. २०५
१२. सं. करूणाशंकर उपाध्याय, आवां विमर्श, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली (सं. २०१८), पृ. ६८
१३. चित्रा मुद्गल, आवां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (सं. २०१५), पृ. २६१
१४. उपर्युक्त, पृ. २१६
१५. उपर्युक्त, पृ. ५१४
१६. सं. करूणाशंकर उपाध्याय, आवां विमर्श, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली (सं. २०१८), पृ. ६९



-सहयोगी प्राध्यापक एवं शोध निर्देशक
हिंदी विभाग, प्रतिष्ठान महाविद्यालय, पैठण,
जिला-छत्रपति संभाजीनगर पिन कोड - ४३११०७ (महाराष्ट्र)
चलित दूरभाष : ०९७६५९४४५८६
ई-मेल : majidmshaikh@gmail.com

# सामाजिक जीवन का यथार्थ और 'सही नाप के जूते' उपन्यास

–मनीष कुमार शुक्ल

'सही नाप के जूते' लता शर्मा द्वारा रचित एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसका प्रकाशन २००६ में भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली द्वारा किया गया। उपन्यास में लेखिका ने समाज में गिरते मूल्यों को बारीकी से देखने का प्रयास किया है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दौर ने समाज को किस तरह प्रभावित किया, इसका जीवंत दस्तावेज यह उपन्यास है। इस दौर में स्त्री देह मात्र देह नहीं, बल्कि बाजार की वस्तु के रूप में देखी जाने लगी। इसे लता शर्मा जी ने बखूबी परखा है। उपन्यास की नायिका उवर्शी जिसका पूर्व नाम उर्मि है, वह किस प्रकार इस व्यवस्था से प्रभावित होती है उसकी कहानी इस उपन्यास में कही गई है। दरअसल यह मात्र उर्वशी की कहानी नहीं, अपितु इस व्यवस्था से जुड़ी अनेकों अनेक लड़कियों की कहानी है। इस दृष्टिकोण से यह उपन्यास और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। ग्लैमर की दुनिया में महिलाओं की बढ़ती माँग और पुरुषों की सोंच ने समाज को काफी प्रभावित किया। स्त्री मुद्दों, विशेष रूप से मॉडलिंग के क्षेत्र में कैरियर बनाने की इच्छा रखने वाली लड़कियों को किन-किन घटनाओं का सामना करना पड़ता है इसकी जीवंत दास्तान यह उपन्यास है।

समय की बड़ी विडंबना है कि स्त्री को मनोरंजन की वस्तु के रूप में देखा जाने लगा है। स्वाभाविक सी बात है कि जहाँ मनोरंजन होगा वहाँ व्यवसायिकता हावी होगी। बाजार के उत्पादों में स्त्री का प्रयोग खूब खुलकर हो रहा है। अधिकांश उत्पादों में स्त्री किसी न किसी रूप में प्रकट होती है। वस्तु के प्रचार-प्रसार आदि के लिए स्त्री चेहरों का प्रयोग बढ़ चढ़कर हो रहा है। किन्तु व्यवसायिकता की अंधी दौड़ में स्त्री को जहाँ एक तरफ आर्थिक रूप से फायदा हुआ है तो दूसरी तरफ नुकसान भी पहुँचा है। स्त्री के बाजारवादी दृष्टिकोण पर बात करते हुए प्रसिद्ध लेखिका प्रभा खेतान लिखती हैं-'स्त्री सौंदर्य की समकालीन परिभाषा तो मीडिया और विज्ञापन ही निर्मित करते हैं, अतः इनसे प्रभावित स्त्री असुरक्षित है और आत्मछवि के प्रति संशयग्रस्त हुई है। वह बार- बार अपने आपसे पूछती है कि क्या मैं ठीक हूँ? क्या मेरा रंग ठीक है? चेहरे पर कोई दाग तो नहीं? कमर ज्यादा चौड़ी तो नहीं?'[१] यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका सामना आज की लगभग हर स्त्री, जो ग्लैमर की दुनिया में कदम

रख रही है उनको देखकर प्रेरणा पाती है, या कर रही है। बाजार ने स्त्री को स्वयं भी बाजार बना दिया है। स्त्री देह का उपयोग कर एक बड़ा वर्ग लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है और इसके बदले में उन्हें अच्छा खासा धन भी दिया जा रहा है। इतना ही नहीं उन्हें इस प्रकार से यश की भी प्राप्ति हो रही है। इस यश और धन के पीछे का उनका शोषण भी कहीं न कहीं दिखाई देता है। इस सबमें न केवल पुरूष अपितु स्त्री स्वयं भी दोषी है। जनसत्ता के अनुसार-'उदारीकरण और वैश्वीकरण के चलते बाजार ने इस व्यवस्था के पितृसत्तात्मक-सामंती मूल्यों को कायम रखने का पूरा प्रयास किया है, तो दूसरी तरफ यह भी समझना होगा कि पूंजीवाद ने अपने फायदे के लिए स्त्री को, स्त्री स्वतंत्रता की एक झूठी चयनशीलता दी है। वास्तव में यह एक प्रकार का भयावह मतिभ्रम है, जहां महिला की वास्तविक मुक्ति नगण्य है, क्योंकि स्त्री-मुक्ति के रास्ते को भूमंडलीकरण ने बेहद भ्रामक मोड़ दिया है।'[२] इन सब कारणों को देखते हुए लता शर्मा ने अपने इस उपन्यास की रचना की है। उन्होंने उर्वशी के बहाने स्त्री के बाजारवादी पक्ष को सामने लाकर विमर्श के केंद्र में ला दिया है।

आज के समय में धन ने सभी को अपनी ओर आकर्षित किया है। पैसे के लिए नैतिक अनैतिक आदि का कोई स्थान नहीं देखा जा रहा। लोगों में धन के प्रति आकर्षण उन्हें मूल्यों से गिराने पर बाध्य करता है। लोगों का सोशल स्टेटस भी उनके धनवान होने और पहनने ओढ़ने के तौर तरीकों पर निर्भर करता है। किसी के गुण अथवा अवगुण से उसकी पहचान न होकर उसके पहनावे और दिखावे से होने लगी है। लता शर्मा जी अपने इस उपन्यास में लिखती हैं-'मुक्त अर्थव्यवस्था के सामने नाच रही है अर्धनग्न स्त्री की देह...जेब मे जब नोट हो तो ये उन्नत वक्ष ऐन नाक के नीचे, होठों के पास। युवा नायक पर बूढ़े महानायक को तरजीह देती है सुंदरी।'[३] लता शर्मा का यह कहना कहीं न कहीं सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाता है जो आर्थिक रूप से पीड़ित है। यदि आपके पास पैसा है तो आपके लिए दुनिया सब कुछ करने के लिए तैयार है। पैसे से लोग अपनी जरूरतों और सुविधाओं की सामान खरीद लेते हैं और पैसा न होने पर अपनी जरूरतें सीमित करना पड़ता है। लोग पैसे से सुविधाओं की सारी वस्तु खरीद लेते हैं। स्त्री देह भी इससे मुक्त नहीं है। वह भी आज बाजार की वस्तु बन गई है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' वाले देश में नारी को भोग की वस्तु बना दिया गया है। टीवी पर चल रही एक फिल्म की घटना के हवाले से कहा गया-'दहेज के साथ लड़कीं भी अच्छी चाहिए। दहेज आ ही चुका था, अब प्रेमिका को अवसर दिया गया।'[४] वस्तुतः दहेज की समस्या भी आज की एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आई है। हर बेटी के पिता को दहेज की इस समस्या से जूझना पड़ता है। कई बार यह भी देखने को मिलता है कि दहेज

के अभाव में लड़कियाँ कुँवारी ही बैठी रह जाती हैं तो कई बार विवाह के बाद उन्हें अधिक जीने का सुख नहीं मिल पाता। इन कारणों से भी एक सामान्य परिवार के माता पिता को सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

संवेदना के गिरते दौर में उसका ह्वास किस प्रकार हुआ, इसे भी यह उपन्यास रेखांकित करता है। उपन्यास के प्रमुख पात्र रजनीकांत के पिताजी, मोहनलाल किरानी के दिल का दौरा पड़ने से मृत्यु हो जाती है। मोहनलाल जी ने अपना सारा जीवन परिवार के कल्याण हेतु समर्पित कर दिया था किंतु परिवार से उन्हें निराशा ही हाथ लगी। एक भरा पूरा परिवार, मकान, दुकान सब कुछ था उनके पास। अंगुलियों में अंगूठियां पहनने का शौक रखते थे किंतु उनकी मृत्यु के बाद उनके हाथ में वह भी न मिलीं। सभी को बस केवल उनकी पूँजी ही दिखाई दे रही थी। कोई घर की ताक में था तो कोई दुकान की, किसी की नजर पैसों पर थी तो किसी की आभूषणों पर। कुल मिलाकर हर व्यक्ति की संवेदना मरी सी दिखाई दे रही थी। उपन्यास की कहानी में तो यह केवल मोहनलाल किरानी जी के साथ होता हुआ दिखाई देता है किन्तु सामान्य जीवन मे ऐसे न जाने कितने ही मोहनलाल किरानी मिल जाएंगे। लता शर्मा जी लिखती हैं-'नहलाते वक्त देखा, उनके बदन में जरा भी सोना न था। जो सोने की मोटी सी जंजीर गले में पहनते थे, वह भी गायब थी। उनकी संदूकची में कुछ पुराने कपड़े थे। न सोना चाँदी, न कुछ नकद। 'ऐसा कैसे हो सकता है?' शकुंतला देवी से पूछा गया तो उन्होंने तमाचे मार-मार कर मुँह लाल कर लिया। छाती कूट- कूट कर वो विलाप किया, वो विलाप किया कि सारे मुहल्ले को पता चल गया कि उनके देवर कितने नीच और कमीने हैं।'[५] सामान्यतः यह समाज मे अक्सर देखने को मिल जाता है।

निम्न एवं मध्यमवर्गीय परिवारों में अक्सर यह देखने को मिलता है, खास तौर से स्त्रियों के प्रति कि यदि वह कुछ नहीं करती अथवा पढ़ने लिखने में उनका मन नहीं लगता तो माता-पिता की ओर से उनके विवाह का प्रस्ताव भेज दिया जाता है। पढ़ने लिखने में कमजोर होने पर अथवा परीक्षा में कम अंक आने पर अक्सर कम उम्र में उनका ब्याह कर दिया जाता है, जो कि उचित नहीं है। प्रत्येक परिवार उनसे मात्र यही उम्मीद लगाकर बैठता है कि वह उनका पालन पोषण करने में उनकी मदद करेगी। कई बार ऐसा हो भी जाता है और नहीं भी इसे भी लता शर्मा जी ने महसूस किया है। वह लिखती हैं-'ऐसा ही तो मेरी मां कहती थी। पढ़, बिट्टी, पढ़। अपने दर्जे में पहला नंबर ला। तुझे वजीफा मिले और तू पढ़। नहीं तो तेरा बाप तुझे घर बैठा लेगा और जो पहले लड़का मिला उसी से तेरा ब्याह कर देगा।'[६] सुंदरता केवल अच्छी ही नहीं होती अपितु कई- कई बार इसकी समस्या भी झेलने को मिलती है। अक्सर समाज में देखने को मिलता है कि सुंदर स्त्रियां न केवल समाज के लिए अभिशाप

बन जाती हैं अपितु उन्हें खुद भी अपनी सुंदरता के कारण कहीं कष्ट झेलने पड़ते हैं। केवल सुंदर होना ही नहीं अपितु अपने शरीर की देखभाल करने के लिए भी स्त्रियों को कई बार तकलीफ का सामना करना पड़ता है। लता जी इसे अपने शब्दों में ढालते हुए लिखती हैं-'उफ, सुंदर होना और सुंदर बने रहना कितनी तकलीफदेह प्रक्रिया है।'[७]

उपन्यास की नायिका उर्वशी जब मॉडलिंग की दुनिया में सफल हो जाती है तो उसके पास कई विज्ञापन आदि आने लगते हैं। इसके लिए उसे काफी पैसा भी मिलता है। उसकी माँ पैसों के लिए चिंता भी जाहिर करती है। वह माँ को समझाती है कि अब पैसे हो गए हैं अब किसी प्रकार से चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। उर्वशी और माँ से संवाद के दौरान जब माँ पूछती है कि इतना पैसा कहाँ से आएगा तो उर्वशी जवाब देती है-'वहीं से जहाँ से डाउन पेमेंट का एक करोड़ आया है। विज्ञापनों से। बाकी रकम किश्तों में देनी है।...सो दे देंगे। इतनी मेहनत की है, अब जरा ढंग से रहेंगे। तू क्यों चिन्ता करती है। मैं हूँ ना।'[८] आज के समय में नौकरियों अथवा ऐसे चयन जिनमें इंटरव्यू को वरीयता दी जाती है वहाँ देह प्रदर्शन को पर्याप्त स्थान मिला है। जिन संस्थानों में अथवा फिल्म इंडस्ट्री में देह का प्रदर्शन पर्याप्त देखने को मिल रहा है। फिल्म निर्देशकों के लिए आवश्यक है कि स्त्री देह का प्रयोग करते हुए फिल्म जगत में आसानी से स्थान पा सकती है। इसके लिए सुंदरता के साथ आवश्यक है कि वह निर्माता और निर्देशकों को कितना संतुष्ट कर पाती है। समाज की इस विडंबना को स्थान देते हुए उपन्यास में लिखा है-'देह ही विचार विनिमय का एकमात्र साधन रह जाता है। उनसे शिष्टाचारगत बारीकियों की ऐसी कड़ी जानकारी की अपेक्षा नहीं है, तीसरी दुनिया से आई है बेचारी! शाबास बच्ची!'[९] फिल्मों में व्याप्त अश्लीलता की ओर ध्यान दिलाते हुए भी लता शर्मा ने पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। वह पुरानी फिल्मों की ओर अपना ध्यान ले जाती हैं। उन्हें महसूस होता है कि पहले की फिल्मों में एक संदेश छिपा होता था किंतु आज की फिल्मों में इसका अभाव है। आज की फिल्मों में अश्लीलता चरम पर है। इसकी वजह से फिल्मों में भी ह्वास हुआ है। फिल्मों का बजट तो करोडों में है किंतु उससे मिलने वाला परिणाम शून्य ही है। वह लिखती हैं-'अब फिल्में लव लव और केवल लव पर बनती हैं, या कहें सैक्स... सैक्स और सिर्फ सैक्स अपील पर बनती हैं।'[१०]

आज के दौर में प्रेम की कोई कीमत नहीं रही। किसी का प्रेम पैसों पर टिका है तो किसी का अर्थ पर। मात्र इन्हीं दो ध्रुवों के बीच में घूमते पेंडुलम की भांति प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। मनुष्य आज के समय में मात्र अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रेम करना चाहता है। मनुष्य का प्रेम पूर्ण रूपेण स्वार्थ और स्वार्थ पर टिका है। यदि सामने वाले से उसका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो उसका प्रेम निरर्थक है। वह तुरंत प्रेम के परिणाम पाना

चाहता है। चाहे वह देह के रूप में हो अथवा आर्थिक रूप में। उर्वशी को समझाते हुए उसकी मां कहती है-'बस यही था उसका प्यार। चार दिन भी इंतजार न कर सका। उसकी नजर तो तेरे पैसे पर थी। जब वह नहीं मिला तो मनोरमा से शादी कर ली।'[११] सामान्य रूप से यह देखने में आता है कि पैसे के आते ही मनुष्य अपनी सीमाएं भूल जाता है। जब उसके पास पैसा नहीं रहता तब उसका खर्च सीमित रहता है किंतु जैसे ही पैसा उसके पास आने लगता है उसके खर्च की सीमा भी असीमित हो जाती है। ऐसे मनुष्य अक्सर समस्याओं से जूझते हुए दिखाई देते हैं। सुखी वही है जो धन की कद्र करता है। बिना अर्थ के वह जिस सीमा में अपना जीवन गुजारता है यदि अर्थ आने पर भी उसी सीमा में अपने धन का व्यय करता है तो वह निश्चित रूप से सुखमय जीवन व्यतीत करता है। लता जी लिखती हैं-'जब पैसे का अभाव था तब भी कड़ी मेहनत और दुनिया भर के नियम संयम थे। अब पैसे की कोई कमी नहीं, तो भी कड़ी मेहनत और ...और भी ज्यादा नियम संयम है।'[१२]

वस्तुतः पूंजी को समाज ने आज के दौर में प्राथमिक वस्तु बना दिया है, किंतु ऐसा है नहीं। केवल पूंजी ही मनुष्य के जीवन यापन का साधन मात्र नहीं होती। मनुष्य के जीवन के लिए संवेदनाएं, विचार आज भी पर्याप्त मात्रा में जरूरी होते हैं। बिना संवेदनाओं के मनुष्य, मनुष्य नहीं रह जाता। और बिना विचार के उसकी संवेदना भी शून्य होती है। संवेदना ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। कोई कितना भी धनवान हो अथवा सुंदर हो, किंतु उसके अंदर यदि संवेदना नहीं है तो यह मान लेना चाहिए कि वह मनुष्य नहीं है। अरस्तु कहता भी है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और संवेदना ही मनुष्य को सामाजिक बनाती है। इस बात को उपन्यासकार ने बहुत गहरे ढंग से विवेचित किया है। वह लिखती हैं-'पूँजी उत्पाद का माध्यम है, उपभोग का नहीं। यह ठीक है कि प्रत्येक पूंजी अंततः धन हो सकती है लेकिन प्रत्येक धन, देह - धन, यौवन धन, पूँजी नहीं होता।'[१३] धन को हमारे समाज में प्राथमिकता जरूर दी है किंतु समाज के ठीक संचालन में केवल धन का ही योगदान नहीं होता, अपितु सामाजिक भावनाओं की भी जरूरत होती है। यदि किसी को आवश्यकता हुई तब हम उसके काम ना आए तो हमारा सामाजिक होना व्यर्थ है और हम किसी से यह अपेक्षा भी नहीं कर सकते कि जब हमें किसी की आवश्यकता होगी तो कोई हमारी मदद करेगा।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आज की ग्लैमरस दुनिया में भी मनुष्य को साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता महसूस होती है। माना कि वह धन से सारी सुख सुविधाओं की आवश्यकताओं की वस्तु खरीद सकता है किंतु उसे आत्म सुख तभी मिलेगा जब वह अंदर से संतुष्ट होगा। धन मनुष्य की बाहरी जरूरतों को पूरा कर सकता है, किंतु मनुष्य के आंतरिक सुख को धन से नहीं खरीदा जा सकता। उपन्यास की यह पंक्तियाँ यहाँ दृष्टव्य

हैं-'केवल पूँजी का निवेश पर्याप्त नहीं है। लाभांश सही मिले, उसके लिए पूँजी और निवेश दोनों पर नियंत्रण रखना चाहिए। लाभांश वही ले उड़ेगा जिसका पूँजी पर नियंत्रण है। अब चाहे वह पति हो, पिता हो, भाई हो, माँ हो या सरकार हो।'१४ यदि हम यह कहें कि इस उपन्यास के बहाने लता शर्मा ने महिलाओं को एक जीवन दृष्टि और जीवन को समझने का तत्व दिया है तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. प्रभा खेतान-भूमंडलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र- सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली-संस्करण २०१४- पृष्ठ ११६

२. https://www-jansatta-com/sunday&magazine/such&advertisements&link&women&with&feudal&mentality&and&ideas/1031001/

३. लता शर्मा- सही नाप के जूते- भारतीय पुस्तक परिषद- नई दिल्ली- संस्करण-२०१६, पृष्ठ ६

४. वही- पृष्ठ २२- २३

५. वही पृष्ठ २७

६. वही-पृष्ठ ४४

७. वही- पृष्ठ ५०

८. वही-पृष्ठ ६५

९. वही-पृष्ठ ७८

१०. वही-पृष्ठ १०८

११. वही-पृष्ठ १२१

१२. वही-पृष्ठ-१३२

१३. वही-पृष्ठ १७६

१४. वही-पृष्ठ १७९-१८०



**शोधार्थी, हिन्दी विभाग**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**
**मो.: ८८४००६१८६० ईमेल- maneeshau90@gmail-com**
**प्रो. राजेश कुमार गर्ग**
**शोध निर्देशक**
**हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय**

# मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में नारी चेतना का स्वरूप

–अतुल कुमार मिश्र

वर्तमान समय का साहित्य किसी एक बात विमर्श का साहित्य नहीं है,अपितु आज के साहित्य में विषयों की विविधता परिलक्षित होती है। आधुनिक मानव के अर्थ में प्रकृति की अनुकृति नारी और पुरुष दोनों हैं जिसके आपसी मेल से विश्व के विस्तार का ज़िम्मा भी इन्हीं के कंधों पर है।

जिसमें दोनों की सहभागिता और उपयोगिता बराबर की रही है, किंतु पुरुष स्वयं को नारी से ऊंचा समझता रहा है जो मानव निर्माण की प्रक्रिया से आज तक पुरुष सत्तात्मक समाज ने अपने आने वाली पीढ़ियों में धीरे-धीरे ट्रांसफर कर दिया है, जो स्वयं नारी से उत्पन्न हुआ पुरुष कुछ ही वर्षों में नारी से श्रेष्ठ हो जाता है।

जबकि भारतीय समाज में नारी जीवन की उपयोगिता अधिक महत्वपूर्ण रही है भारतीय परंपरा में वैदिक काल से वर्तमान काल तक नारी जीवन के उत्थान और पतन ने समाज में गहरी छाप छोड़ रखी है। प्राचीन काल में भले नारी पात्रों का वर्णन मानव जाति के विकास एवं महत्व पर आधारित रहा हो,किंतु मध्यकाल तक आते-आते नारी सम्मान के प्रति समाज उदासीन होता गया धीरे-धीरे नारी पुरुष सत्तात्मक समाज में खुद को कैद पाया।किंतु वर्तमान समय में जब स्त्रियां घर की चारदीवारी लांघी तो अपने अधिकार एवं सम्मान के लिए पुरुषों से लोहा लेना भी आरंभ किया।

जिससे नारियों में चेतना विकसित हुई आधुनिक दौर के साहित्यरत लेखक एवं लेखिकाओं ने भी नारी विषयक चेतना को पुष्ट किया।इसी क्रम में इक्किस्वी सदी की उत्कृष्ट कथाकार लेखिका मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपने साहित्य के माध्यम से नारी को चेतना के स्तर पर नया आयाम दिया तथा नारी की पीड़ा,पतन के कारण नारी की दशा और बदलते समाज में उसकी कठिनाइयों से निजात दिलाने के लिए भरसक प्रयासरत रही है तथा नारी चेतना को जागृत करती आ रही है।

**बीज शब्द**-नारी चेतना, आत्मनिर्भरता, नारी शिक्षा, सहचरी, विवाहित, नारी जीवन, मानसिक व शारीरिक शोषण, अग्नि परीक्षा, दुराचार, अस्मिता, पितृ-सत्तात्मक समाज।

भारतवर्ष में महिला रचनाकार में महिलाओं की एक लंबी परंपरा रही है हिंदी साहित्य के विगत डेढ़ सौ वर्षो में महिला लेखिकाओं ने एक विशिष्ट पहचान बनाई है। जिसमें मनीषा कुलश्रेष्ठ एक महान चिंतक, मौलिक विचारक, नारी चेतना की सजग प्रहरी तथा लोकप्रिय कथाकार रही है।

अपने कथा साहित्य के माध्यम से समाज के दैनिक जीवन में जटिल होने वाली प्रत्येक छोटी-छोटी घटनाओं को जितनी सूक्ष्मता से समझा उतनी ही सूक्ष्मता से उसको अभिव्यक्त भी किया। खासकर नारी-पुरुष संबंध, उनमें व्याप्त विसंगतियां एवं ज्वलंत समस्याओं का अवलोकन करते हुए अपने चिंतन दृष्टिकोण को बहुत ही बेबाकी शब्दों में अभिव्यक्ति भी किया है।

हमारे भारतीय समाज के प्राचीन इतिहास के पन्नों को पलट कर देखें तो नारी का जीवन संघर्षों से घिरा रहा है पुरुष सत्तात्मक समाज के ढांचे में हमेशा बंधी रही है।अनेक प्रकार की चुनौतियां एवं समस्याएं उनको हर कालखंड में रही है। पुरुषों ने नारी को भोग्य और अबला समझ कर उसका अतीत से मान मर्दन करता चला रहा है। पुरुषवादी समाज ने समय-समय पर नारी पर इतने बांध बनाएं कि वह घर तक सीमित हो गई। धीरे-धीरे समाज के सामाजिक नियम इतने कठोर हो गए की नारी को शिक्षा लिए भी इजाजत नहीं रही। लेकिन नारी ने समय-समय पर समाज के बंधनों को तोड़ना आरंभ किया और स्वयं को आत्मनिर्भरता की राह पर लेकर चल पड़ी।स्वयं के लिए शिक्षा,अधिकार,सम्मान एवं अस्मिता की लड़ाई लड़ना भी आरंभ किया तथा पुरुषवादी समाज में अपने लिए स्थान बनाना प्रारंभ किया।

नारी को बल देने के लिए महादेवी वर्मा ने लिखा है कि ''भारतीय नारी जिस दिन अपने सम्पूर्ण प्राण-आवेग से जाग सके, उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए सम्भव नहीं। उसके अधिकारों के सम्बन्ध में यह सत्य है कि वे भिक्षावृत्ति से न मिले हैं, न मिलेंगे।''[१]

यह सार्वभौमिक सत्य है कि हर एक रात के बाद उजली सुबह जरूर आती है।यह बात नारी के लिए ठीक बैठती है, नारियों ने परंपरा और परिस्थितियों से निजात के लिए विद्रोह बुलंद किया अपने लिए लीक से हटकर और डटकर मुकाबला किया। परिणाम यह हुआ की नारी चेतना तथा सोच के स्तर पर अपने को दृढ़ किया और हर परिस्थितियों से निपटने के लिए रास्ता तैयार किया वर्तमान दौर में नारी अपनी अस्मिता को लेकर सजग है।

उनसे छेड़छाड़ के लिए किसी को अनुमति नहीं देती चाहे उसका पिता,भाई पति या प्रेमी क्यों न हो नारी आधुनिक दौर में समाज को आड़े हाथों से लेना आरंभ कर दिया है। सबसे पहले नारी स्वयं को आर्थिक रूप से मजबूत करना आरंभ किया,नारी की आर्थिक निर्भरता से समाज उन्हें नया आयाम दिया।

शिक्षा स्वरोजगार तथा आत्मसम्बलता ने अपने को लकीर का फकीर होने से रोका किंतु इन सब के बावजूद नारी जब स्वयं आत्मनिर्भरता की राह पर है तब भी आज के दौर में भी नारी सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक रूप से शोषण का शिकार हो रही हैं। जहां उसके आत्मचेतना को चोटिल कर उसे नीचा दिखाने का काम किया जाता रहा है।वर्तमान दौर में यदि नारी अपनी अस्मिता तथा चेतना से समझौता कर ले तो उसे संस्कारी माना जाएगा,यदि नारी अपने शोषण के लिए आवाज बुलंद करे तो विद्रोही की संज्ञा दी जाती है।पितृसत्तात्मक समाज में नारी को अपनी अस्मिता के लिए हर एक मुहाने पर लड़ना पड़ता है।

प्रभा खेतान ने नारी को लेकर अपने विचार में लिखा है कि ''आज की स्त्री पारंपरिक नारी की भूमिका में स्वयं को पंगु नहीं बना देना चाहती हैं किंतु इससे बाहर जाते ही उसे अपने नारीत्व का उल्लंघन करना पड़ता है व्यस्त जिंदगी शुरू करने वाली स्त्री को पुरुष की बात सफलता की कोई परंपरा नहीं मिलती समाज उसे नए अध्यवासी पुरुषों के बराबर महत्व नहीं देता उसके साथ यह दुनिया एक नए परिप्रेक्ष्य में पेश आती है एक स्वतंत्र मानव व्यक्त की हैसियत से स्त्री होना आज भी विलक्षण समस्याओं से भरा हुआ है।''[२]

मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज में हो रहे अत्याचार से पर्दा उठाया है।'कठपुतलियां' कहानी नारी मनोदशा, सामाजिक तथा शारीरिक रूप से प्रताड़ित इस कहानी की मुख्य पात्र सुगना का विवाह एक पाव से पोलियो ग्रस्त रामकिसन से कर दी जाती है।जबकि उसका पिता उसकी शादी जोगंदर नामक युवक से तय कर रखी थी लेकिन पिता की मृत्यु के बाद दहेज के कारण उसका विवाह नहीं हो सका "बाई गाली-गलौज के साथ झगड़ी ना होती, लेन-देन की बात पर जोगी का बाप न अटका होता तो जोगी,उसका पति होता। उसकी पक्की सहेली रूनकी ने कहा तो था,'सुगनी मैंने सुना, रामकिसन ने दो हजार उल्टे तेरी बाई के हाथ में रखे हैं।' तभी तो जोगी जैसा बांका जवान छुड़ा के लंगड़ा रामकिसन. ...' उसे स्वयं पर गुस्सा आया, विरोध क्यों नहीं किया मां का? काठ की पुतली ही रही रे तू सुगनी।''[३]

सुगनी की सामाजिक डोर रामकिसन के हाथ की कठपुतली बनकर रह गई लेकिन विवाह उपरांत एक दिन सुगना की मुलाकात जोगी से हुई।दोनों ने पुरानी बातों में इतने डूब गए कि शारीरिक संबंध तक बना डाला और सुगना गर्भवती हो गई। जिसके लिए सुगना को अग्नि परीक्षा तक देनी पड़ी जिसमें रामकिसन ने उसका सहयोग किया।

लेकिन देखने और समझने वाली बात यह है कि पहले जहां नारी को उसकी पसंद-नापसंद की चिंता किए बिना किसी भी पुरुष के गले बांध दी जाती थी,वर्तमान दौर में परिस्थितियों भले उसके विपरीत हो उसने त्वरित सामाजिक विरोध भले न कर सकी हो लेकिन

आत्म चेतना के लिए तटस्थ रहती है।समाज में जहां विवाह बाद पर पुरुष को देखना गुनाह माना जाता है वहां सुगना ने मदहोशी में ही सही बाद के परिणामों के चिंता किए बिना पूर्व प्रेमी से संबंध बना लेती है,विवाह की डोर में भले रामकिसन के पास थी ,लेकिन मन की डोर उसका पूर्व प्रेमी जोगी बसा था।

नारी अस्मिता को लेकर आज बहुत सजग है उसे वहीं पुरुष छू सकता है जिसे वह अधिकार प्रदान करती है। लेकिन समाज में आज भी वह स्वयं को असुरक्षित महसूस करती है, नारी को भोग्य की दृश्य देखा जाता रहा है मौका पाते ही पर पुरुष उसे अपने शारीरिक शोषण का शिकार बना लेता है।बदलते परिवेश में समाज का सामाजिक ढांचा भले ही परिवर्तित हो चुका हो किंतु नारी समाज के साथ-साथ अपने घर,परिवार यहां तक की सगे संबंधियों से भी स्वयं को सुरक्षित नहीं महसूस कर पाती है।मनीषा जी ने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज था परिवार का असली चेहरा बड़ी बेबाक तरीके से उजागर किया।

'फांस' कहानी में उसके तन के शराबी पिता ने ही उसके साथ बलात्कार कर सामाजिक मर्यादा तथा पिता पुत्री संबंध को तार-तार कर दिया। कहानी की पात्र अंतिमा ने अपने पिता से ही अपनी अस्मिता को बचाने में असफल हो जाती है चेतना के स्तर पर उसने सोच रखा था कि ''अगली बार शराब के नशे में पिता ने ऐसी-वैसी कोई हरकत की तो उसका सिर दीवार से फोड़ देगी उसके पिता ने ही उसका सिर दीवार से दे मारा अर्ध चेतन में जाने कब समाज और सभ्यताओं की कानों में वर्षों से वह एक गाली जो गर्म शीशे सी गिरती थी आज उसी की जांघों में वह लहू से लिख दी गई।''[४]

बलपूर्वक पुरुष आज भी नारी की आबरू से खेलता आ रहा है ऐसी तमाम घटनाएं आज भी समाज में देखने को मिलती हैं जिसमें रिश्ते एवं मर्यादाएं हर रोज तार-तार हो रहे है।

आज के दौर में भी पुरुषवादी समाज चाहता है कि नारी उसके अधीन रहें। लेकिन स्वालंबन और स्वयं की पहचान के लिए नारी अब घरों में सीमित नहीं रहना चाहती वह बाहर निकल स्वयं के लिए अवसर तलाशती है। जबकि पुरुषों सोचता उसकी पत्नी केवल घर,परिवार तथा बच्चों को देखभाल करे। मनीषा जी कहानी 'केयर ऑफ स्वात घाटी' में इसे उजागर किया है कहानी की मुख्य पात्र सुगन्धा अपनी अस्मिता बनाने के लिए स्वालंबी होना चाहती है। इसके लिए वह थियेटर में हो रहे नाटक में भाग लेती है जिसमें उसको लीडिंग रोल काम मिला रहता है पर उसका पति की सोच उससे अलग है। उसका पति नहीं चाहता की वह थियेटर में जाएं जो उसकी पुरुषवादी मानसिकता को दिखाती है। ''तू कहीं नहीं जा रही, चुपचाप घर में बैठ। कहकर उसने उसे बिस्तर पर धकिया दिया। वह उठी और बैग उठाकर चलने लगी तू भी रोक कर देख ले।''[५]

सुगन्धा का जाना यह दिखाता है कि नारी को अब बलपूर्वक और डरा धमका के नहीं रखा जा सकता वह स्वयं की अस्मिता और स्वयं की चेतना के लिए स्वतंत्र है। उसे पर पुरुषवादी अवधारणा जबरदस्ती नहीं थोपी जा सकती।

अब नारी विरोध करना आरंभ कर दिया,जहाँ पुरुष चाहते हैं उनकी पत्नियाँ मूक बनकर गुलामी का जीवन निर्वहन करे।आज भी समाज में तमाम नारी इस दंश को झेल रही है। किन्तु आधुनिक दौर की नारी रुग्ण मानसिकता के दंभ को तोड़ कर समाज में स्वयं की पहचान बनाने के लिए प्रयासरत है।

'परजीवी' कहानी वर्तमान समाज में हो रहे बदलाव तथा नारी जीवन के बदलते स्वरूप व स्वतंत्रता का आख्यान है स्त्रियां आज हर तरह की स्वतंत्रता चाह रही है।वह किसी भी बंधन में बंध कर नहीं रहना चाहती।परजीवी कहानी में युवक अपनी पूर्व पत्नी को पूर्ण आजादी दी वो घर का काम नहीं करना चाहती थी किंतु बड़े-बड़े घर का सपना देखते-देखते उसके पुश्तैनी मकान को बिकवा देती है।नारी आजकल पैसे और दिखावे की दुनिया में रहना पसंद कर रही है उन्हें आजादी चाहिए। उस आजादी में औरत पुरुष को छोड़कर आगे बढ़ जाती है इस कहानी में पुरुष की पत्नी दस साल तक अपने पति साथ रहने के बाद तलाक लेकर अपने पुत्र को लेकर उसे छोड़कर चली जाती है।

उसका पति कहता है कि मेरी मां सही कहती थी "अपनी औरतों को जीना सिखाओगे, बाहर निकलना पैरों पर खड़े होना तो वे एक दिन तुम्हें छोड़कर आगे बढ़ जाएंगी।"६

कहानी वर्तमान समाज के बदलते स्वरूप में नारी के व्यवहार में परिवर्तन को दिखाता है।नारी समय और परिस्थितियों समझौता किए बिना दूसरे रिश्ते के लिए आगे बढ़ जा रही है। जहां पहले समाज नारी किसी भी पुरुष से शादी कर ली तो,उसकी बुरी आदतों के बावजूद तलाक के लिए नहीं सोचती थी, लेकिन अब तलाक का किस्सा समाज में बहुत तेजी से प्रचलित हो चला है।

'मास्टरनी' कहानी में पारिवारिक दांपत्य जीवन को निर्वहन करते हुए सुषमा नौकरी करने लगती है जिससे उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करता पड़ता है क्योंकि पति भी बैंक में क्लर्क की नौकरी करता है। पति-पत्नी जब दोनों नौकरी में हो तो बच्चों का जीवन बड़ा त्रासद हो जाता है। सुषमा घर से बिना बच्चों और परिवार से दूर रहकर नौकरी करती,शनिवार- रविवार को जब वह घर आती तो, बीच में पति से ट्रांसफर को लेकर बात करती पर पति उसके साथ कहीं जाने के लिए तैयार नहीं था।

ऐसे में सुषमा बिल्कुल अकेली पड़ जाती है वह अंदर से टूटने लगती है मन में कई प्रकार के ख्याल आते हैं वह कहती है कि उसके अंदर की चेतना जागती है और वह अपनी जिंदगी

के विषय में कहती है कि ''खर्राटे लेते पति के बगल में लेटे-लेटे खुद ही से उसे इतनी ज्यादा ऊब हुई कि मन हुआ या तो कुछ खाकर सो रहे या भाग जाए इन जंजालों से। खुद पर कोफ्त हो रही थी, किसलिए कर लिए पैदा ये बच्चे झटाझट?दांपत्य क्या है, यह समझ पाती, तब तो ये अनचाहे मेहमान चले आए।''[७]

यह सुषमा के अंदर की चेतना है,जो सुषमा की तरह कई नारियों के मन में आता होगा और अपने लिए एक नया रास्ता खोज लेती है जहां धीरे-धीरे पुरुष के सहारे को लेना छोड़ देती है। अपना कार्य स्वयं करने लगती है, वह पति, बच्चों तथा परिवार का मोह छोड़ देती है।

## निष्कर्ष

मनीषा कुलश्रेष्ठ वर्तमान समय और समाज के प्रति सजग लेखिका है।उनके निगाह से समाज का कोई भी कोना छूट नहीं सकता उन्होंने समाज की कुरीति को अपनी साहित्य में उतारा है। एक नारी होने के नाते उनकी नारी के प्रति गहरी चिंता है। विषय वस्तु की विविधता में भी नारी की चेतना को जागृत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी नारी-जीवन,उनकी स्थिति, परिस्थिति, मनोदशा, शोषण के खिलाफ है। उनकी कहानियों में सामाजिक यथार्थ से संघर्ष करती नारी का अंकन हुआ है। जो समाज से गहरे सवाल लिए खड़ी है। वर्तमान दौर में नारी के लिए अधिकार, सम्मान और अस्मिता से बड़ा कुछ भी नहीं, उससे पाने के लिए नारी प्रयासरत है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१.महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियां, (अपनी बात), लोक भारतीय पेपर बैक्स, पृष्ठ संख्या- ०६

२.प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या ३१६

३.मनीषा कुलश्रेष्ठ, रंग रूप, रस गंध, कठपुतलियां ,पृष्ठ संख्या- १३४

४. वहीं, फांस,पृष्ठ संख्या-३३८

५. वही, रंग रूप, रस गंध-१, केयर अहफ स्वात घाटी, पृष्ठ संख्या - ३८६

६. वही,परजीवी,पृष्ठ संख्या- ५२०

७. वही, रंग रूप, रस गंध, पृष्ठ संख्या- २३२



**शोधार्थी**

**गुजरात विश्वविद्यालय,अहमदाबाद।**

**मोबाइल- ७००७८२४१७०**

**ई-मेल-atulkumarmishra0590@gmail-com**

# आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों का संवाद

–डॉ० मुकेश कुमार

मानव भाषा के माध्यम से अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है। भाषा मनुष्य मात्र की विशेषता है। भारत में हम कई भाषाएं बोलते हैं। जैसे कि हिन्दी, तमिल, बंगला, मणिपुरी, आसामी, तेलुगू आदि। ये भाषाएँ किसी रूप में एक दूसरे से संबंधित हैं। हिन्दी का इतिहास वस्तुतः वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। उससे पहले आर्य भाषा का स्वरूप क्या था? इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही भारत में आर्यों का आगमन किस काल से हुआ इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। साधारणतया यह माना जाता है कि २००० ई. पूर्व १५०० ई.पूर्व भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश में आर्यों के दल आने लगे। वर्तमान समय में राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल, ओड़िशा असम और उत्तरप्रदेश के पहाड़ी इलाकों में मुंडा, सांथाल, कोल, हो, शबर, खासी, मानख्मेर कुंकू, भूमिज आदि अनेक आदिम जातियाँ फैली हुई है जिसकी भाषा, बोली और शब्दावली का तलदेश का बोली से सीधा सम्पर्क रहा।''[१]

द्रविड़ कुल की जातियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक उन्नत रही हैं। फलस्वरूप भारत में आर्यों का प्रसार सरलतया सम्पन्न नहीं हुआ। ''उनको अनेक प्राकृतिक एवं मनुष्यकृत बाधाओं एवं विरोधों का सामना करना पड़ा।''[२]

द्रविड़ भाषा परिवार में चार मुख्य दक्षिण भारतीय भाषाओं को सबसे बड़ी साहित्यिक भाषा माना जाता है। ये भाषाएँ भारत के दक्षिण और दक्षिण मध्य क्षेत्रों से संबंधित हैं। ये भाषाएँ - तमिल तेलुगू, मलयालम। इन चारों में से तेलुगू दुनिया में सबसे ज्यादा लोगों द्वारा बोली जाती है।

जहाँ तक द्रविड़ भाषाओं का संबंध है, इनके विकास के बारे में काल्डवेल ने १९वीं शताब्दी में जो रूपरेखा बनाई थी, वह अपनी जगह कायम है। द्रविड़ भी बाहर से आए थे, यह स्थापना उन्हीं की है। द्रविड़ भाषा परिवार किसी और बड़े भाषा परिवार की एक शाखा है। यह और बड़ा भाषा परिवार एक जाति के लोगों का है, यह स्थापना भी काल्डवेल की थी। कुछ आधुनिक विशेषज्ञ एक परिवार को अतिव्यापक मानकर, उसे सीमित करके, फिनो उग्रियन परिवार की बात करते हैं। इससे काल्डवेल की मूल स्थापना में बहुत बड़ा फर्क नहीं पड़ता। तत्व की बात यह है कि द्रविड़ भाषा, भाषी जन-समुदाय उत्तर-पश्चिम से भारत में आए और

बाद को आर्यों ने उन्हें पराजित किया तथा दक्षिण भारत में ठेल दिया। इस तत्त्व के बारे में किसी ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी को सन्देह नहीं है। यदि सन्देह था तो काल्डवेल को ही था क्योंकि विजित द्रविड़ भाषाओं के क्रियापद आदि उन्हें विजेता (नवीन या प्राचीन) आर्य भाषाओं में दिखाई न देते थे।''[३]

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में आर्य और द्रविड़ भाषाई संवाद को लेकर एक स्थापना दी है ''भारत में अनेक भाषा-समस्याएँ ऐसी है जिनका संबंध ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से है। आर्य भाषा-परिवार और द्रविड़-भाषा-परिवार, दो भिन्न, निरपेक्षतः अलग जन समुदायों के भाषा-परिवार हैं या अपने उद्‌भव काल से ही परस्पर संबंध रहे हैं? भारत के लिए यह समाजशास्त्रा और भाषा विज्ञान, दोनों का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अमरीकी और ब्रिटिश भाषा- विज्ञानियों के विवेचन में यह प्रवृत्ति और यह लक्ष्य अत्यन्त स्पष्ट है कि द्रविड़ भाषा-समुदाय विजित समाजों की भाषा सिद्ध किया जाए और द्रविड़ भारत को आर्य भारत से अलग किया जाए। किसी भी सम्प्रदाय का भाषाविज्ञानी हो, वह वर्तमान भारतीय सन्दर्भ में पुरानी मान्यताएँ दोहराता चला जाता है।''[४]

देखिए द्रविड भाषाओं के अन्यतम पंडित काल्डवेल ने एक महत्त्वपूर्ण बात कहीं है : ''उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं में जो तत्त्व संस्कृत से भिन्न हैं, वे यदि द्रविड़-परिवार के हैं, तो हम आशा कर सकते हैं कि उनके शब्द-भण्डार में कुछ मूल द्रविड़ शब्द भी होंगे-जैसे कि सिर, पैर, आँख, कान वगैरह के लिए शब्द। लेकिन इस तरह के शब्दों में मुझे कोई विश्वसनीय समानता नहीं दिखाई दी।''[५]

आदि आर्य भाषा की देखादेखी आदि द्रविड़ भाषा की कल्पना की गई है। इस आदि द्रविड़ से दक्षिण भारत की प्रमुख भाषाओं की उत्पत्ति मानी गई है। ध्वनि और व्याकरण संबंधी भेदों के अलावा द्रविड़ भाषाओं में मूल शब्द-भंडार संबंधी भेद भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत परिवार की भाषाओं में जहाँ संख्यावाचक एक शब्द का सर्वत्र व्यवहार होता है; वहाँ तमिल में ऑण्णु या आन् रू शब्द है और तेलुगू गें ओकरि। आठ के लिए तमिल शब्द ऍट्टु है, तेलुगू एनिमिदि नौ के लिए तमिल ऑम्वदु, तेलुगू तोम्मिदि, पचास के लिए तमिल अम्बदु तेलुगू यार्मे। इसी तरह सर्वनाम में महत्त्वपूर्ण भेद है। ''मैं के लिए तमिल और तेलुगू में क्रमशः नान् और नेनु शब्द हैं।''

आर्य और द्रविड़ भाषाओं में मूल एकता दिखाई देती है। दक्षिण के पुराने राज्यों में पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा तमिल साहित्य का सुप्रसिद्ध पीठ थी। प्रस्तुतः मदुरा ही दक्षिण की मथुरा नगरी थी ब्रज भाषा और ब्रज भाषा से जुड़ी हुई आलवार गोदा मनसा वृंदावन में ही वास करती थी और आज भी वृंदावन का मंदिर रंगस्वामी द्वारा स्थापित होने

के कारण रंग जी का मंदिर, तमिलनाडु और ब्रज प्रदेश को जोड़े हुए हैं। आजकल का केरल राज्य उन दिनों में चेर राज्य के नाम से प्रसिद्ध था। पश्चिमी घाट के कारण आना-जाना कम हुआ और उस क्षेत्राीय भाषा पर संस्कृत का प्रभाव अत्यधिक पड़ा, फलतः वर्णमाला में अनेक नये वर्ण जोड़ने पड़े। मलयालम और तमिल में अत्याधिक साम्य है। तमिल में आम को 'मांगाय' कहते हैं तो मलयालम में 'माडन' तमिल में आप 'नींगल' है तो मलयालम 'निङ्ल'। इसी तरह तमिल में मैं को 'नान्' तो मलयालम में 'जान'। द्रविड़ परिवार के पुराने ग्रंथों में संस्कृत के कईं शब्द हैं। ईसवी की दूसरी शताब्दी में लिखे गए 'तिरूक्कुरल' का पहला पद है- देखिए-

**अहर मुदल एङ्त्तेलाम् आदि।**
**बगवन मुदले आदु।"[७]**

उपरोक्त दो पंक्तियों में स्पष्ट हो रहा है कि आदि भगवान संस्कृत के शब्द हैं। इससे सिद्ध होता है कि उस जमाने में भी उत्तर-दक्षिण की भाषाओं में आदान-प्रदान हुआ करता था। इसी प्रकार संस्कृत भाषा में भी नीर (नीर), मोती (मुक्ता), सोना (स्वर्ण) शब्द थे। मोती आदि तमिल शब्द (मुत्तू) का दूसरा रूप है। मोती सुदूर दक्षिण के समुद्र में प्रचुरता से मिलता है।

देखिए तमिल भाषा में संस्कृत शब्दावली बहुत अधिक मात्राा में मिलती है जैसा कि--श्रीरंगम्, तिरुपति बालाजी आदि-आदि।

ऐसा माना जाता है कि महर्षि अगस्त्य हजारों किलोमीटर की लम्बी यात्राा कर दक्षिण के पाण्ड्य राज्य में पहुँचे और दक्षिण छोर 'पोदिये मलै' स्थान पर आश्रम स्थापित किया और बड़े-बड़े ग्रंथों के आधार पर तमिल भाषा का व्याकरण लिखा। माना जाता है कि उसके आधार पर ही उनके शिष्य तुलकापियर ने 'तुलकाप्पियम्' नामक प्रामाणिक व्याकरण २०० ई. पूर्व में रचा। आज के युग में सुब्रह्मण्यम भारती ने मातृभूमि कविता में कहा

**इसके करोड़ों मुख हैं, परन्तु दिल एक है,**
**इसकी अनेक भाषाएँ हैं, परन्तु मन एक है।"[९]**

देखिए केरल के शंकराचार्य, तमिलनाडु के रामानुजाचार्य तथा कर्नाटक के माध्यवाचार्य ने दक्षिण से उत्तर भारत में अपने सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया। ''केरल के दो सौ वर्ष पूर्व राजा स्वाति तिरूनाल विद्या प्रेमी थे। उन्होंने हिन्दी के ज्ञान तथा संगीत की लहरियों से गुनगुनाहट प्रारम्भ की। उनके दरबार में रंगय्यंगार नामक तमिल भाषा-भाषी गायक थे जो हिन्दी के भी विद्वान थे और गीत गाया करते थे। स्वाति पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ा। स्वाति तिरूनाल के समय में काव्य-भाषा के रूप में हिन्दी की प्रमुख उपभाषा ब्रजभाषा ही मान्य थी।

ऐसी स्थिति में स्वाति तिरूनाल ने ब्रजभाषा को ही अपने गीतों का माध्यम बनाया। ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली और ब्रजभाषा के समन्वित रूप को उन्होंने स्थान दिया।''[६]

डॉ. गोपीनाथन ने शोध ग्रंथ 'केरलियों की हिंदी को देन' में विचार प्रस्तुत किए-''हिंदी काव्य भाषा के इतिहास में महाराजा का भाषापरक दृष्टिकोण बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। वस्तुतः ब्रजभाषा के समय में खड़ी बोली के रूप को भी काव्य के प्रश्रय देते हुए उन्होंने हिन्दी का अखिल भारतीय समन्वित स्वरूप सामने रखा।''[८]

भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों को एक समस्या का बार-बार सामना करना पड़ा है कि क्यों मध्य देश की भाषाएँ सभी कालों में अपने परिसर की भाषाएँ, क्यों संस्कृत की अपेक्षा तथाकथित मध्यकालीन आर्य भाषाओं के अधिक निकट प्रतीत होती हैं। इससे वैदिक भाषा की प्राचीनता और उससे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की उत्पत्ति का सिद्धांत भी खतरे में पड़ जाता है, साथ ही कतिपय अन्य पेचीदगियाँ पैदा हो जाती है, ''क्योंकि मध्यकालीन बोलियाँ जिन दृष्टियों से संस्कृत से भिन्न पड़ती है उन्हीं में वे द्रविड़ बोलियों के अधिक निकट पड़ती हैं। यदि इस प्रकार की विशिष्टता केवल पूर्व और दक्षिण की भाषाओं में पाई जाती तब तो इसे आसानी से द्रविड़ प्रभाव भी माना जा सकता था, पर यहाँ पश्चिम, उत्तर-पूर्व और दक्षिण सभी दिशाओं की एक ही स्थिति है।''[११]

जॉर्ज ग्रियर्सन की यह मान्यता रही है कि परिसरीय जत्थे का निकट संबंध दर्द भाषियों से था और वे संभवतः उन्हीं की एक शाखा थे। दूसरे जत्थे से पराजित होकर ये पंजाब, सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, पूर्वी हिंदी प्रदेश आदि हिमालय की तलहटियों में बस गए।''[१२]

इन भाषाओं के पृथक् कुलों में रखने का एक बड़ा कारण यह रहा है कि पहले द्रविड़ भाषाओं को संस्कृत से उत्पन्न माना जाता था। यह गलत था और आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के अध्ययन ने इसको गलत प्रामाणित कर दिया। परन्तु इसका समाधान उन्होंने पारिवारिक अलगाव से तलाशा वह भी सही नहीं है। वस्तुतः द्रविड़ बोलियों से अर्थात् तत्समान अनेकानेक बोलियों के समन्वय से उस उपस्तर की रचना हुई थी जिससे भारत की समस्त बोलियों का विकास हुआ है। परन्तु इस दृष्टि से कभी इन पर विचार करने का प्रयत्न नहीं किया गया। ''द्रविड बोलियों को पृथक् कुल में रखने वाले सबसे मेधावी विद्वान काल्डवेल को भी ऐसी पर्याप्त सामग्री दिखाई दी थी जिससे भारत की समस्त बोलियों का विकास हुआ है। परन्तु इस दृष्टि से कभी इन पर विचार करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया। काल्डवेल पूरे औचित्य से दोनों भाषाओं की साझे की संपदा मानते हैं न कि एक दूसरे से उधार लिया हुआ।।''[१३]

''काल्डवेल की यह स्थापना सही है कि द्रविड़ भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई, परन्तु यह अधूरी सच्चाई है। पूरी सच्चाई यह है है कि भारत की किसी भी भाषा की उत्पत्ति

न तो संस्कृत से हुई है, न उसमें आए विकारों की परिणति के रूप में हुई। पूरी सच्चाई यह कि जिन्हें हम आर्य भाषा क्षेत्र कहते हैं उसमें सैकड़ों बोलियाँ बोली जाती थीं, जिनकी सही पहचान संभव नहीं है, परन्तु जिनके परस्पर मिलने और कुछ के विलय होने के परिणाम स्वरूप इसे पूरे भूभाग पर संस्कृत के प्रभाव के कारण आभाषिक समानताएं पैदा हुई है। इस निर्माण प्रक्रिया में विविध कुलों में गिनी जाने वाली सभी बोलियों अपने संपर्क क्षेत्र या सूत्र की भाषाओं से प्रभावित हुई है और अपनी परिरक्षणवादिता के बावजूद प्रभावित हुई। यह प्रभाव शब्द भंडार, वाक्य विन्यास और व्याकरण सभी पर पड़ा है।''[१४]

प्रो. प्रभाकर सिंह जी ने अपने एक शोध-पत्र में लिखा है कि ''आज हिंदी राष्ट्रवादी इतिहास के खाँचे में फँसी हुई है।''[१५]

आर्य और द्रविड़ भाषाओं का आपसी आदान-प्रदान होता रहा है। महान साहित्यकार, भाषा चिंतक रविनंदन सिंह जी लिखते है''यह स्वाभाविक तथ्य है कि दक्षिण की भाषाओं ने संस्कृत से बहुत कुछ लेन-देन किया है।''[१६]

सबसे रोचक बात यह है कि जहाँ-जहाँ संस्कृत का प्रसार हुआ, यहाँ-वहाँ संस्कृत के साथ ही द्रविड़ और मुंडारी कहे जाने वाले तत्त्वों का भी प्रवेश हुआ। गतिविधियों की भिन्नता के कारण इनका अनुपात : और कभी-कभी अंचल तक भिन्न पाया जाता है।

भारतीय भाषाओं के मध्य विकसित समान तत्त्व ही राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को गतिशील बना रहे हैं। अनेक भाषाविद् विचारक, पत्रकार यह स्वीकार करते हैं कि आर्य एवं द्रविड़ भाषाओं का समान रूप से अन्तःसंबंध है।[१७] एक संस्कृति दूसरी संस्कृति का प्रचार-प्रसार करती है। आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों के संबंध पर भाषाविद्, आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने संभाषण में लिखा है- ''अखिल भारतीय संदर्भ में दोनों के संबंध पहचानने से उनके विकास का सही ज्ञान हो सकता है।''[१८]

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि आर्य एवं द्रविड़ भाषाओं की संस्कृति का आपस में आदान-प्रदान रहा है। उत्तर भारत के संतों ने दक्षिण भारत में जाकर संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है। लगभग ३०० ई. पूर्व तमिल भाषा के बारे में तीन संगम मिलते हैं। प्रथम संगम में लेखकों की सभा का उल्लेख मिलता है। दूसरे संगम में बहुत किताबें मिलती हैं जिसमें तमिल की व्याकरण तोल्का पीएम २०० ई. पूर्व में है। संस्कृत भाषा के शब्द तमिल, मलयालम, कन्नड, तेलुगू आदि में मिलते हैं। देखिए दक्षिण के अनेक वैष्णव आचार्यों ने वृंदावन को अपना केंद्र बना कर भागवत माहात्म्य की उस वृद्धा भक्ति की कथा को सार्थक कर दिया है जो ज्ञान-वैराय रूपी अपने शाश्वत पुत्रों को लेकर दक्षिण देश में उत्पन्न हुई

कर्नाटक में बढ़ी, गुजरात में बूढ़ी हुई किन्तु वृंदावन तक आते-आते नवीनेव सुरुपिणी हो गयी। अब प्रश्न यह उठता है कि संस्कृत प्राचीन भाषा है या तमिल इसका अध्ययन जारी रहेगा। परन्तु आर्य और द्रविड़ भाषा परिवार का संवाद होता रहा है और होता रहेगा।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. ज्योति मिश्र, हिंदी भाषा का विकास और बोलियाँ, पृ. ७
२. वही, पृ. ८
३. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ. १८.
४. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ. ४५
५. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ. १०५
६. वही, पृ. १५०
७. डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया, हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं में समान तत्त्व, पृ. २०-२१
८. डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया, हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं में समान तत्व, पृ. २१
९. डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया, हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं में समान तत्व, पृ. २२
१०. वही, पृ. २२
११. भगवान सिंह, आर्य-द्रविड़ भाषाओं का अंतःसंबंध, पृ. १३१
१२. वही, पृ. १३५
१३. काल्डवेल : कंपरोटिव ग्रामर ऑफ़ द्रविडियन लैंग्वेजेज़ १९१३, पृ. ५७०-२०
१४. भगवान सिंह, आर्य- द्रविड़ भाषाओं का अन्तः-संबंध, पृ. १४८
१५. प्रो. प्रभाकर सिंह, 'नई चाल में ढली हिंदी और हिन्दी की नयी चाल, पृ. ७०, शोध पत्रा हिंदी अनुशीलन (वर्ष २०१२), पृ. ७१
१६. रविनंदन सिंह, राष्ट्रभाषा का संदर्भ और हिंदी संस्थाएँ, पृ. ९६.
१७. डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया, हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं में समान तत्त्व, पृ. ७
१८. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ. १००



**-ग्राम व पोस्ट प्योंत**
**ज़िला - करनाल, पिनकोड-१३२०३६**
**हरियाणा, संपर्क - ९८९६००४६८०**
**Email : drmkhindi@gmail.com**

# गोविन्द मिश्र के उपन्यासों में विघटित होते परिवारों का चित्रण

–डॉ० सरिता दुबे

भारतीय संस्कृति की अन्य खासियतों में संयुक्त परिवार व्यवस्था अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। संयुक्त परिवार, जहाँ तीन से चार पीढ़ी के लोग एक साथ एक छत के नीचे खुशी-खुशी जीवन यापन करते हैं। एक दूसरे के सुख-दुःख में हम दर्द बनकर हँसते-रोते हैं। लेकिन आधुनिकता के आगमन के साथ ही संयुक्त परिवार की यह व्यवस्था धीरे-धीरे पुरानी सोच की मानसिकता से जोड़ दी गई है। आधुनिक समय में संयुक्त परिवार के बजाय लोग एकल परिवार पर जोर देने लगें। संयुक्त परिवार में व्यक्ति परिवार के सभी सदस्यों के विषय में सोचता था। सबके हित का ख्याल रखना पड़ता है। बड़े परिवार में बड़ी जिम्मेदारियाँ होती थी, लेकिन उसका अलग आनंद था। महानगरीकरण के दौर ने संयुक्त परिवार व्यवस्था पर कुठाराघात किया है। विघटित होते संयुक्त परिवार की व्यथा का उत्कृष्ट अंकन गोविन्द मिश्र ने अपने उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' में की है। प्रेम, एकता, सहयोग जिसके बल पर संयुक्त परिवार की नींव रखी जाती थी, आज वो व्यक्ति में धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है। जिसका चित्रण उपन्यास में लेखक ने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

''राजन के घर के सामने एक प्राचीन, विशालकाय बरगद का पेड़ था। ऊपर आकाश जैसा तना हुआ शीतल, छायादार, खूब मोटा तना, जड़े कहाँ-कहाँ तक फैली हुई थी, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल था'' यह बरगद का पेड़ प्रतीक है-उस पाँच आँगनों वाले घर का जिसका सदस्य राजन था''[1] बिखरते परिवारों के पीछे आज संबंधों में स्वार्थ आ जाना भी कहीं न कहीं कारण भूत है। पहले लोग बिना स्वार्थ अपनों के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहते थे लेकिन भोगवादी मानसिकता ने सभी संबंधों में अपना स्वार्थ खोजने की प्रवृत्ति को विकसित किया है। अपनों के स्नेह का आज कोई मूल्य ही नहीं रह गया है। वह भाई-भाभी जो बड़ी आत्मीयता से राजन को पढ़ाते-लिखाते हैं उनके लिए राजन के ये कथन इसी सच्चाई को उजागर करते हैं ''आपने पढ़ाया लिखाया तब कोई रूक्का नहीं लिखा लिया था कि राजन का जीवन बिल्कुल आपकी तरह होगा। आप यह चुनते हैं कोई कुछ दूसरा चुनता है। आप शराब नहीं पीते हैं। राजन शराब पीना पसंद करता है। आप शाकाहारी हैं राजन को मांस

खाना पसंद है। किसी को नहीं बनना आपकी तरह देवी-देवता वह मनुष्य कमजोर मनुष्य बना रहता है।''[२] राजन की पत्नी रम्मो अपनी बीमार सास को अपने साथ रखने को तैयार नहीं है।''मैं अपने घर में मनहूसियत नहीं चाहती-चार दिन जिंदगी के हैं और उसे आहें-कराहें सुनने में काट दो। ऊँट।''[३] घर के बड़े-बुजुर्ग जिनकी सेवा करना पहले पुण्य का कार्य माना जाता था, आज वह घर में मनहूसियत फैलाना हो गया है।

विघटित होते परिवार की समस्या आज इतनी व्यापक हो चुकी है कि एकल परिवार भी व्यक्ति को बोझ लगता है जिसमें वह पत्नी की जिम्मेदारी को भी उठाने में खुद को अक्षम पा रहा है, जिसके कारण आज अणु परिवार व्यवस्था का फैशन चल पड़ा। परिवार यानि व्यक्ति खुद। राजन का लड़का छोटू अपनी पत्नी के साथ वर्ष भर भी नहीं रह पाता है और उससे अलग होकर एकाकी जीवन जीने का निर्णय लेता है। वह शादी को बंधन मानता है। वह समझौता करने को तैयार नहीं है। उसके जीवन में अब अकेलापन ही बचा है।

संयुक्त परिवार में पलने वाले बच्चे संस्कारी और नैतिक मूल्य की समझ रखते थे। लेकिन 'पाँच आँगनों वाला घर' में छोटू को देखकर यह समझा जा सकता है कि यह लड़का मानवीय मूल्यों से पूर्णतया हीन है, क्योंकि उसकी परवरिश कुछ ऐसे ही पारिवारिक माहौल में हुई है जहाँ रिश्तो को स्वार्थ के तराजू पर तौला जाता रहा है।

राजन सोचता है-''एक बनारस का पाँच आँगनों वाला घर था-सबको अपने में बांधे रहता, जो बाहर जाए उसे अपनी तरफ खींचता रहता, जो लौटकर न भी आ पाते उनके भीतर वापस वहीं पहुँचने की कोशिश तो बनी ही रहती। एक राजन का घर है, जो बाहर की तरफ फेंकता है सबको छिटक कर इसके बाहर ही जाते हैं लोग। कोई केंन्द बिन्दु नहीं है जिसकी तरफ लौटने के लिए तकते हों वे।''[४] भोगवादी मानसिकता ने राजन के परिवार को एकल परिवार से अणु परिवार की ओर अग्रसरित कर दिया।'' उसने स्वयं को कैद कर दिया एक छोटे परिवार में-रम्मों, बंटू, बिट्टो, छोटू और आखिर में वे भी उसके न हुए।''[५] संयुक्त परिवार में लोगों का परस्पर कैसा संबंध होता है? यह बात रम्मो कभी समझ नहीं पाती है और न ही संबंधों की आत्मीयता का अपने बच्चों में संचार कर पाती है-''बड़े घर में लोगों के आपस में संबंध क्या और कैसे होते हैं-यह तुम नहीं जानती रम्मो। तुम्हें क्या दोष दूँ। तुम समझ ही नहीं सकती कि भाभी कैसे माँ हो सकती है''[६] सम्मिलित परिवार में कुछ ऐसे लोगों का भी भरण-पोषण हो जाता था, जो जीवन में कुछ कर पाने में असफल रहते थें। सन्नी चाचा के शब्दों में-''सम्मिलित परिवार का एक यह फायदा तो था कि दो-चार मुझ जैसे नाकारा भी जीवन निकाल ले जाएँ, अच्छी-अच्छी तृप्ति के साथ..... वे लोग जो अगर परिवार के बाहर हों तो मानसिक रोगी हो जाएँ।''[७]

संयुक्त परिवार में लोग मिल-जुलकर रहने में विश्वास रखते थें। वे रिश्ते ही उनकी सम्पत्ति होते थें लेकिन आज के व्यक्ति का यह मानना है कि ''सम्मिलित परिवार में व्यक्ति का विकास रूक जाता है। आपको अपने विकास के लिए बाहर निकलना पड़ा। अपनी अलग सम्पत्ति की चाह हर व्यक्ति में स्वाभाविक है, यह चाह ही प्रगति के लिए प्रेरणा बनती है।''[८]

प्रगति की चाह, करियरिस्टिक दृष्टिकोण ने आज व्यक्ति अपनों के महत्व को भूलता जा रहा है। अपनों की खुशी उनके स्वास्थ्य के बजाय कैरियर में सफल होने, आगे बढ़ने को तवज्जो देते हैं। रम्मों जब छोटू से कहती है कि राजन का ऑपरेशन बहुत क्रिटिकल है वह अमेरिका से आ जाए तो उसका जवाब होता है-''ममी यह हिन्दुस्तानी डॉक्टर ऐसे ही डराया करते हैं अपनी इंपॉर्टेन्स के लिए। साइंस बहुत आगे आ गई है। कुछ नहीं होने वाला। मेरी एक जरूरी कॉन्फ्रेन्स है। मेरा कैरियर इस पर डिपैंडेंट है। मैं अभी नहीं निकल सकता।''[९]

आधुनिक भोगवादी मानसिकता ने व्यक्ति को इस कदर संवेदना शून्य बना दिया है। बंटू इसका उदाहरण है। भाई-बहन की शादी की खबर हो या मृत्युशय्या पर पड़े पिता की खबर कोई भी बात उसके कैरियर से महत्वपूर्ण नहीं है। यह हमें आज के व्यक्ति में हीन होती संवेदना के प्रति चिंतनशील बनाता है।

'धीरे-समीरे' में इसी तरह अपने पति से बिछुड गयी (पत्नी) सुनंदा के ससुर द्वारा अपने ही पोते को अगवा कर लेने की घटना भी शून्य होती मानवीय संवेदना को दर्शाती है। अपने बच्चे के बल पर अपने खोये हुए पति की तलाश में परेशान सुनंदा पर उसके ससुर द्वारा गुंडो से हमला करवाना ससुर और बहू के रिश्ते को शर्मिन्दा करना है। जब वह अपने बच्चे किशोर को छुड़ा कर ले जाने लगती है तो उसे बच्चा चोर कहकर जेल भेजने की धमकी देता है-''छोकरी रख दे इसको अगर अपनी खैर चाहती है। कौन है तू? लड़के को उठाकर ले जा रही है। बच्चों को उड़ाने का धंधा करती है क्यों? मैं अपनी पुलिस को बुलाता हूँ।''[१०]

'धूल पौधों पर' की नायिका तमाम शारीरिक, मानसिक शोषण के बावजूद अपने परिवार को बचाए रखना चाहती है, लेकिन उसके पति द्वारा मान-सम्मान की सभी मर्यादाएं तोड़ने के पश्चात् वह मजबूत हो जाती है अपने विवाहित जीवन से मुक्त होने को वह अपना घर छोड़कर अपने पुत्र के साथ दूसरे शहर में नौकरी करने चली जाती है।

इस प्रकार टूटते-बिखरते परिवार की समस्या को 'तुम्हारी रोशनी में उतरती हुई धूप' 'कोहरे में कैद रंग' आदि उपन्यासों में उठायी गई है।

पारिवारिक टूटन की चिंता के पीछे गायब होते मूल्य भी इसकी गम्भीरता बढ़ाते प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि कहीं न कहीं ये परिवार ही आगे बढ़ाने का कार्य कर रहे थें। सन्नी चाचा

के शब्दों में-''परिवार तो एक चीज हुयी, असली बात मूल्यों की है। सम्मिलित परिवार तो टूट ही रहे हैं, टूट गए कहिए अपना परिवार नहीं देखा। वे टूट गए आर्थिक तनावों, आर्थिक जरूरतों के कारण..... लेकिन उन परिवारों में जो निस्वार्थ बलिदान की भावना थी..... इसे तो बचाएं हम। तुम अपने इस घर में बचाना।''[११]

विघटित होते परिवार और पारिवारिक रिश्तों में गायब होती आत्मीयता, मानवीय संवेदना का कारण कहीं न कहीं इसी समय और समाज में निहित है। किसी भी परिवार को चलाने के लिए जिस कुशलता, अनुशासनप्रियता, सक्रियता, कर्मठता, व्यवस्था-कौशल, कर्तव्यनिष्ठा के साथ आत्मीयता, रिश्तों में मिठास, त्याग, धैर्य, सहयोग के भाव की आवश्यकता या अनिवार्यता रहती है उसका आज के व्यक्ति में अभाव में अभाव होता जा रहा है। क्षय होते संयुक्त परिवार व्यवस्था और उस व्यवस्था को सम्भालने की कोशिश में लगे व्यक्तियों की व्यवस्था और सक्रियता का चित्रण गोविन्द मिश्र ने अपने उपन्यासों में पूरी निष्ठा के साथ दर्शाया है। चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ने अपने लेख 'टूटते परिवार और बिखरते मनुष्य की करूण गाथा' में लिखते है-''गोविन्द मिश्र के सातवें उपन्यास 'पाँच आगनोंवाला घर' का केन्द्रबिन्दु भारतीय मध्यवित्त वर्ग का घर है। जिसका पिछले पचास वर्षो (१९४० से १९९०) में विघटन हुआ है। यह विघटन अपने समग्र परिवेश ओर संदर्भ के साथ चित्रमय रूप में प्रस्तुत किया गया है।''[१२]

इनके उपन्यासों में विघटित होते परिवारों का जीवंत अंकन किया किया है। विघटन का कारण यांत्रिकता, महानगरीकरण, भोगवादी प्रवृत्ति, पाश्चात्य समाज का अंधानुकरण, भारतीय संस्कृति के प्रति अज्ञान आदि भी विघटित परिवार के पीछे कारणभूत माने जा सकते हैं। गोविन्द मिश्र द्वारा अपने विभिन्न उपन्यासों में बड़ी आत्मीयता और गहराई से इस समस्या को रेखांकित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है।

## सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची


१. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-०६।
२. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-९९।
३. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-८३।
४. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-१५५।

५. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-१६२।
६. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-७६।
७. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-६६।
८. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-६६।
९. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-१६३।
१०. धीर-समीरे-गोविन्द मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपर बैक संस्करण पृष्ठ-१६४।
११. पाँच आगनोंवाला घर-गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-६८।
१२. गोविन्द मिश्र-सृजन के आयाम-सं०चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, संशोधित संस्करण २००७, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

**-असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी)**
**संत गणिनाथ राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय**
**मुहम्मदाबाद, गोहना, मऊ (उ०प्र०)**

# 'संत रविदास की रामकहानी' में अभिव्यक्त जाति विमर्श

–अमित कुमार

'संत रविदास की राम कहानी' डॉ. देवेंद्र दीपक द्वारा रचित संत रविदास के जीवन पर आधारित एक उपन्यास है, जिसका प्रकाशन २०११ में हुआ। यह उपन्यास महान संत कवि रैदास के जीवन में होनेवाली घटनाओं, समाज में व्याप्त किवदंतियों और उनके काव्य-पदों से प्रेरणा लेकर लिखा गया है। यह एक जीवनी-परक उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने संत रविदास की कई महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं को स्थापित किया है; साथ ही उनके जीवन-संघर्षो को भी व्यक्त किया है। साथ ही जातिगत संघर्षों, असमानता, छुआछूत, शिक्षा के लिए संघर्ष, दीक्षा के लिए संघर्ष को भी चित्रित किया है। यह लेख जाति विमर्श के विविध प्रासंगिक संदर्भों को प्रस्तुत करने का प्रयास करेगा।

जाति विमर्श, अस्पृश्यता, शिक्षा का अधिकार, असमानता, आत्मसम्मान, दीक्षा, दलित, चर्मकार।

**प्रस्तावना**-'संत रविदास की राम कहानी' (२०११) डॉ. देवेंद्र दीपक द्वारा रचित संत रविदास के जीवन-दर्शन पर आधारित एक औपन्यासिक कृति है। यह उपन्यास संत रविदास को समझने, पढ़ने तथा उन्हें और उनके दर्शन को जानने का एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर है। डॉ. बलदेव वंशी उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं-"संत रविदास की वाणी में पौराणिक आख्यानों, भक्ति-ज्ञान-कर्म विषयक विचारों, लोक में व्याप्त पारंपरिक इनके रंग-रूपों को यथावश्यक प्रयुक्त करके देवेंद्र दीपक ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।"[१] शिल्प विधान की दृष्टि से यह उपन्यास हिंदी साहित्य जगत में एक नया प्रयोग है। लेखक ने इस उपन्यास को संवादात्मक एवं साक्षारात्मक शैली का प्रयोग करके इस उपन्यास को मोतियों की माला जैसा पिरोया है। लेखक संत रविदास से सीधे संवाद करता है, जो-जो जिज्ञासा लेखक के मन में है, वह रविदास के सामने रखता है और रविदास उन जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए अपनी आत्मकथा सुनाते हैं।

वास्तव में हिंदी के प्रसिद्ध संत कवियों को लेकर उनके जीवन दर्शन पर आधारित महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए, जैसे- कबीर पर 'लोई का ताना', सूरदास पर 'खंजन नयन', तुलसी पर 'मानस का हंस', एवं 'रत्ना की बात', विद्यापति पर 'लखिमा की आँखे', गोरखनाथ

पर 'धूनी का धुआँ', बिहारी पर, 'मेरी भव कथा हरो' भारतेंदु हरिश्चंद्र पर 'भारती का सपूत' इत्यादि। परंतु संत रविदास हिंदी साहित्य में उन लेखकों की बीच जगह नहीं बना पाए, लेकिन देवेंद्र जी ने उनके जीवन-दर्शन पर लिखकर उन्हें साहित्य में स्थापित कर एक अहम भूमिका अदा की। वह स्वयं मनोगत में लिखते हैं-"मध्यकालीन संत कवियों में यद्यपि रविदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तथापि उनका अवदान पूरी तरह सामने नहीं आ सका। उनके साथ वही हुआ, जो आधुनिक युग में हिंदी कवि सियारामशरण गुप्त के साथ हुआ।.....वे मैथिलीशरण के सामने वह मानो की पहाड़ की ओट हो गए। कबीरदास की चर्चा इतनी हुई कि अन्य संत कवियों की पहचान अधूरी रह गयी।"[२] देवेंद्र जी ने रविदास की रामकहानी लिखकर उनके महत्त्व को बढ़ाया और लोगों तक रविदास की चर्चा को पहुँचाने का काम किया। यह उपन्यास मनुष्य बनने की प्रक्रिया है। एक आम आदमी की कहानी है, जो अपने मुख से स्वयं कहता है। इस संदर्भ में प्रो. संजय द्विवेदी ठीक ही लिखते हैं-"डॉ. दीपक आम आदमी से जुड़े साहित्यकार हैं। आम आदमी की समस्याओं, उनकी अभिरुचियों एवं उनके मनोविज्ञान की उन्हें गहरी समझ है, पारिवारिक एवं सामाजिक ताने-बाने पर बुनी हुई उनकी लेखनी में समाज का प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उनकी यह विशेषता है कि अपनी रचनाओं में वे जितनी सहजता एवं सरलता से समाज के उच्च वर्ग का चित्रण करते हैं। उतनी ही साफगोई से वे समाज के वंचित वर्ग की पीड़ा को भी उजागर करते हैं।"[३]

जाति विमर्श- जाति विमर्श बीसवीं-इक्कसवीं सदी का अस्मिता मूलक विमर्श में से एक माना जाता है। जबकि यह सदियों का विमर्श है; जब व्यक्ति दलित भी नहीं था। सदियों से नीची माने जानेवाली जातियों का दमन-शोषण होता आ रहा है, जिसका प्रमुख कारण वर्ण व्यवस्था है। इसी वर्ण व्यवस्था ने ही जाति व्यवस्था को जन्म दिया और जाति व्यवस्था ने सामाजिक असमानताओं, विसंगतियों और मनुष्य-मनुष्य में भेद को सर्वप्रथम बौद्धकाल में यह विमर्श खड़ा हुआ। संस्कृति के चार अध्याय में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं-"जातिप्रथा को चुनौती देकर बुद्ध ने इस देश में एक महान आंदोलन का आरंभ किया जो, प्रायः, गाँधी तक चलता आया और आज भी चल रहा है उन्होंने मनुष्य की मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से पूज्य नहीं हो जाता, न कोई शूद्र होने से पतित हो जाता है। उच्चता और नीचता जन्म पर नहीं, कर्म पर अवलंबित हैं।"४ इस तरह जब नीची जातियों के लोगों ने वर्ण व्यवस्था और असमानताओं पर सवाल उठाने शुरू कर दिए, जब उनकी जाति अस्मिता का प्रतीक बन गई, तब से यह विमर्श खड़ा हुआ। बुद्ध के बाद पुनः मध्यकाल के संत कवियों ने इस विमर्श को केंद्र में लाया। डॉ. अमरनाथ लिखते हैं-"दलित चिंतकों के अनुसार अतीत का लोकायत, वर्ण व्यवस्था से पीड़ित दलित जनता का

धर्म था। इसीलिए दलित विमर्श की परंपरा का उससे गहरा संबंध है। उसने एक ऐसी विचार परंपरा का जन्म दिया जो वेद और वर्ण व्यवस्था के विरोधी थी। यह परंपरा बाद में बौद्धों, सिद्धों और नाथों से होती हुई मध्यकाल के दलित संतों तक पहुँची।"[५] संत कवियों ने ही वर्ण व्यवस्था को कटघरे में लाकर खड़ा किया, जिसमें प्रमुख कबीर, रविदास, नानक, नामदेव, तुकाराम तुलसीदास इत्यादि संत कवि थे। लेखक स्वयं लिखते हैं-"मानवीय अधिकारों का जितना हनन भारत में मध्यकाल में हुआ उतना शायद ही कभी अन्यत्र हुआ हो। एक ओर विदेशी आततायी शासकों ने अपने राजनीतिक स्वार्थ और धार्मिक निष्ठाओं के कारण पूरे समाज पर अत्याचार किया। वहीं दूसरी ओर हिंदू समाज के स्वर्ण ने समाज के अंत्यज वर्ग को मनोवांछित गरिमा से वंचित किया। पहले ने सांप्रदायिकता को बढ़ाया, दूसरे ने सामाजिक विद्वेष को। दोनों दिशाओं से आने वाला उत्पीड़न गलत है दोनों के चलते मानवीय गरिमा कलंकित होती है।"[६] 'संत रविदास की राम कहानी' संत रविदास के तत्कालीन समाज में सामाजिक विसंगतियों और असमानताओं का एक आईना है जो रविदास के समय के समाज का पर्दाफाश तो करता ही है। देवेंद्र दीपक जी 'विमर्श' नाम के अध्याय में रविदास के माध्यम से जाति विमर्श पर विशिष्ट जोर देते हैं। इस अध्याय में वह जाति व्यवस्था पर खरी-खरी सुनाते नज़र आते हैं और जाति विमर्श से संबंधित कई प्रश्न उजागर करते हैं। उनका मानना हैं कि यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ होने का दावा करता है तो उसे अपने दावे को सिद्ध करना होगा कि आप श्रेष्ठ हैं, क्यों हैं? किसी को दबाने, उनका शोषण करने, उनसे सेवा लेने और उनका अनादर करने से श्रेष्ठ और पूज्यनीय नहीं हो जाएँगे। आपको पूज्यनीय और श्रेष्ठ आपके कर्म बनाते हैं, जाति नहीं।

निम्न जातियों की सामाजिक भूमिका- भारतीय समाज में सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सभी जातियों की अपनी-अपनी भूमिका रही है। ये जातियाँ एक-दूसरे पर निर्भर रही हैं, जैसे कपड़ा बनाने के लिए जुलाहे, बाल काटने के लिए नाई, जूता बनाने के लिए चर्मकार, बर्तन बनाने के लिए कुम्हार, केवट, ग्वाले कूड़ा-मैला ढोने के लिए भंगी इत्यादि छोटी जातियाँ समाज में अपनी-अपनी भूमिका निभाते आ रहे हैं। दीपक जी रविदास जी के माध्यम से कहते हैं-"सर्दी गर्मी से बचने के लिए कपड़े बुना जुलाहों ने, समाज के लिए कपड़े सिया दर्जी ने, उजला बनाया धोबी ने, नाखून काट कर, बाल काट कर चिकना-चुपड़ा बनाया नाई ने, नाई न होता तो आदमी हवसी बन जाता।"[७] पनही, चरसा, घोड़े की लगाम और चाबुक बनाकर चर्मकार ने अपनी भूमिका को निभाया। इंद्रराज सिंह लिखते हैं-"आज कोई जाति वर्णव्यवस्था के अनुसार नहीं है। वर्ण व्यवस्था एक ढीले संगठन का नाम है जो जातिवाद की लंबी सीढ़ी में परिवर्तित होती चली आई है। वर्ण व्यवस्था केवल पुस्तकीय आदर्श है। संभव

है उसकी कभी अवश्यकता पड़ी हो; परंतु आज तो वह शोषण का प्रमुख माध्यम बनी हुई है। इसमें एक वर्ग के दूसरे वर्ग द्वारा शोषण की भावना बनी रहती है। एक वर्ग जब एक बार नीचे आ गया तो उसे सिर उठाने का साहस नहीं हुआ और उच्चवर्गवालों ने उसे उठने न देने के लिए विधान बना डाले।"[८]

संत रविदास और उनकी जाति-संत-शिरोमणि संत रविदास का का जन्म एक अस्पृश्य समझी जानेवाली चर्मकार जाति में हुआ। यह जाति सामाजिक स्तर के दृष्टि से नीचे पायदान की जाति थी। अन्य अस्पृश्य जातियों की तरह यह भी जाति दोहरी उत्पीड़न का शिकार थी। मनुष्य को अपनी जाति का पता उसके अपने परिवार से लगता है, जो समाज व्यवस्था की देन है, जैसे रविदास कहते हैं-

**"माँ ने कहा, 'हम चर्मकार हैं' और मैं मान लिया कि मैं चर्मकार हूँ।'**
**पिता ने कहा, हम चर्मकार हैं और मैं मान लिया कि मैं चर्मकार हूँ।'**

अड़ोस-पड़ोस और गाँव टोल के लोगों ने मुझसे चर्मकार की तरह व्यवहार किया तो बात पक्की हो गई कि मैं चर्मकार हूँ। अपनी जाति का पता ऐसे चलता है।"[९] जाति व्यवस्था के संदर्भ में रविदास कहते हैं-"मेरी जाति का खोटापन मेरा अपना लिया दिया नहीं है। वह व्यवस्था की देन है। शास्त्रों की जूठन है।"[१०] अपनी जाति का महत्त्व समझने के कारण रविदास अपनी जाति पर खुलकर बोले। इस संदर्भ में मोहनदास नैमिषराय लिखते हैं-"रविदास की वाणियों में जो बेबाकी रही, वैसी बेबाकी और तल्ख सचाई महाराष्ट्र के दलित आंदोलन से उभर कर साहित्य में भी रही। रविदास ने अपने पेशे और जाति का खुलकर वर्णन किया।"[११] उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं- "१. कह रैदास खलास चमार। २. ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।"[१२] वह जानते थे की चर्मकार कहने से न वह छोटे हो जाएँगे और न ही उनकी जाति छोटी हो जाएगी। जाति की विषमता पर रविदास कहते हैं-"तरह-तरह की सेवा लेने वाले समाज ने अपने इन सेवाओं का आदर नहीं किया, आदर करना तो दूर सबके लिए व्यवहार के अलग पैमाने तैयार किया।"[१३] रविदास अपनी जाति के प्रति सजग पुरुष थे; वह जानते थे कि दोष उनकी जाति में भी है; वह कहते हैं-"हमारी जाति नीची थी लेकिन हमारी जाति में भी ऊँच-नीच थी कुछ उपजातियों में परस्पर ऊँच नीच थी। हुका पानी का भेदभाव।"[१४]

अस्पृश्यता का दंश और कलंक- भारतीय समाज में जाति व्यवस्था ने ही अस्पृश्यता को जन्म दिया। अस्पृश्यता समाज का एक कलंक है। इस कलंक से मुक्ति की लड़ाई भी समाज की परिधि में लड़नी होगी। अस्पृश्यता हिंदू समाज की आध्यात्मिक दरिद्रता और सांस्कृतिक क्षरण का कारण भी है और पहचान भी। रविदास जी मानते हैं कि 'अस्पृश्यता का टीका हमारे माथे पर अदृश्य स्याही से लगाया गया है।' पं. नंदकिशोर तिवारी 'चाँद' के अछूत अंक में

संपादकीय विचार में लिखते हैं- "शताब्दियों के अन्याय, अत्याचार एवं अनाचार ने इन अभागे शूद्रों और अंत्यजों को केवल निर्धन, निर्बल एवं निकृष्ट ही नहीं बना दिया,.....उन पर केवल अत्याचार ही नहीं हुए, वरन् उन पर अनाचार भी खूब हुआ और उनकी समस्त मानसिक, बौद्धिक एवं अध्यात्मिक भावनाएँ, धारणाएँ तथा वृत्तियाँ भी निर्दयतापूर्वक निर्यातन-यंत्र में पीस डाली गई।"[१५] इसी अपृश्यता के चलते नीची जाति में अच्छा नाम रखने के लिए भी बुरा माना जाता था; वह उदाहरण देते हुए कहते हैं-"वह भी पुत्र का नाम रखा गया रघु। कोई अछूत रघु कैसे हो सकता था? सो रघु, राहु हो गया।"[१६] इस तरह से कोई नीची जाति का व्यक्ति अगर अच्छा नाम रख दे तो स्वर्ण को फूटी आँख नहीं सुहाता था। जाति के आधार पर नाम भी रखना नब्बे के दशक तक चलता रहा।

**जाति के कारण शिक्षा के लिए संघर्ष-** सदियों से जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के चलते नीची जातियों को महत्त्वपूर्ण अधिकार से वंचित रखा गया। वह अधिकार था- 'शिक्षा का अधिकार'; जिसके लिए रविदास को संघर्ष करना पड़ता है। वह अपनी शिक्षा के संघर्ष की कहानी सुनाते हुए देवेंद्र दीपक जी से कहते हैं-

**"उन्होंने मुझसे पूछा- तुम्हारे पिता का नाम क्या है?**
**मैंने कहा- रघु, राहु।**
**माँ का नाम?**
**कर्मावती।**
**निवास स्थान?**
**मँडूर काशी के पास।**
**वर्ण?**
**शूद्र,**
**जाति?**
**चर्मकार**

शूद्र और चर्मकार सुनकर गुरुजी कुछ चौंके, गुरुजी ने कहा- वत्स तुम्हें इस पाठशाला में प्रवेश नहीं मिल सकता।

**क्यों?**
**क्योंकि तुम शूद्र हो।"[१७]**

इस तरह वर्ण और जाति व्यवस्था के चलते गुरुजी रविदास को शिक्षा नहीं देना चाहते थे। क्योंकि उनकी जाति चर्मकार और वर्ण शूद्र है। ऐसी स्थिति में शिक्षा तो बहुत दूर की बात होगी। इस संदर्भ में लेखक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए विमर्श को केंद्र में लाता है-"जैसे

आचार्य ने सब सुना, अंत में एक बात कही। मुझ पर इस पाठशाला के संचालन का भार है। मैं जानता हूँ कि तुम योग्य हो। लेकिन तुम्हें प्रवेश देकर, मैं अपनी संस्था के लिए कोई जोखिम नहीं उठाना चाहता। मुझे तुमसे सहनुभूति है। लेकिन मैं व्यवस्था और अनुशासन से बँधा हूँ। तुम्हारे प्रवेश से संस्था के अनुशासन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।"[१८] इस प्रकार इस जाति व्यवस्था ने नीची जाति के बच्चों को शिक्षा के अधिकारों से वंचित किया और असभ्य और अशिक्षित रहने का श्राप थोपा। इसलिए भारतीय समाज में रामानंद जैसे नायकों की आवश्यकता है। क्योंकि जब रविदास संत रामानंद से दीक्षा लेने जाते हैं। तब उनके अंदर जाति को लेकर संशय होता है कि 'कहीं ऐसा न हो कि कोई मुझसे मेरा नाम और मेरी जाति पूछ ले। मेरी जाति जानने के बाद मुझे लांछित करके आश्रम से निकाल दे।' लेकिन रामानंद जी उस संशय का निवारण करते हुए रविदास को दीक्षा देते हैं और कहते हैं-"रविदास झिझक छोड़ो जरा अच्छी तरह मलो और जल डालो। मेरे यह चरण तुम्हारी गति बनने वाले हैं। रविदास इनके प्रक्षालन में संकोच कैसा?"[१९] यदि सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाना है तो हमारे समाज में सभी वर्गों जातियों को एक साथ लाना होगा। इसी से समाज और संस्कृति को और मजबूती मिलेगी। मध्यकाल में रामानंद जैसे वैष्णव संतो ने यही किया।

श्रेष्ठ जाति का अहंकार और ऊँच-नीच का भाव- आज के समय में भी बहुत से ऊँची जाति के लोग अपनी जाति पर अहंकार रखते हैं कि मेरी जाति श्रेष्ठ है। मैं इस जाति का हूँ। मैं भी ऐसे लोगों से पूछना चाहता हूँ कि किस बात का दंभ है? शिक्षा का दंभ, वेद-पुराणों का दंभ अथवा किसी अछूत का शोषण और उनका दमन करने, अधिकारों का हनन तथा उन्हें गरियाने-लतियाने का दंभ। इसी श्रेष्ठता के अहंकार ने मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद आज भी बनाए रखा, जिसका शिकार रविदास जैसी आज भी अछूत समझी जानेवाली तमाम नीची जातियाँ होती हैं। जातिगत भेदभाव के आधार पर रविदास जी दीपक जी से कहते हैं-"बचुआ, जिन ब्राह्मणों ने हमारे साथ भेदभाव किया। हमारे साथ ऊँच-नीच बढ़ायी, बेगानों से भी बदतर सलूक किया। देख लेना कल वही ब्राह्मण अपनी जाति में एक-दूसरे के साथ भेदभाव बरतेंगे।"[२०] यह बात सत्य है कि आज के समय में लोग अपनी जाति में भी भेदभाव करने लगे हैं, जिसका उदाहरण दीपक जी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-"आपकी काशी में संस्कृत सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के संयोजक थे महामना मदन मोहन मालवीय। सम्मेलन में महाराष्ट्र दक्षिण भारत के जो विद्वान आए थे। वह उत्तर भारत के ब्राह्मणों का बनाया भोजन खाना नहीं चाह रहे थे।"[२१] देखने की बात यह है कि अपनी ही जाति में भेद करते हुए ब्राह्मण एक-दूसरे के हाथ का बना भोजन तक खाना पसंद नहीं कर रहे थे। वर्तमान में कुछ नीची जाति के लोग कंठी और माला पहनकर अपने को शुद्ध समझने लगे हैं, जिसके कारण वह

अपने रिश्तेदारों के घर जाकर उनके बर्तनों में पानी तक नहीं पीते; यह नीची जातियों में बहुताया होने लगा है। जो जातियाँ भेदभाव का शिकार थीं, वह भी अब भेदभाव करने लगीं।

जाति के कारण दीक्षा देने के लिए संघर्ष- किसी नीची जाति के व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करना, जितना कठिन काम था उतना ही दीक्षा देना। रविदास के समय में भी एक विशेष वर्ग को शिक्षा-दीक्षा देना, भक्ति करने का हक था। लेकिन रविदास जैसे लोग, रामानंद जैसे संत की कृपा से भक्ति और दीक्षा को सर्वसुलभता से प्राप्त कर ले; तो यह बात जाति व्यवस्था को बनानेवाले विशेष वर्ग को खटकने लगती थी। उनको शिक्षा प्राप्त करने के लिए जो संघर्ष जाति व्यवस्था से करना पड़ता है, वही दीक्षा देने में भी। इसका संदर्भ इस उपन्यास में महारानी झाली के संदर्भ में खुलता है। जब महारानी झाली रविदास के नाम और भक्ति से प्रभावित होकर, उनसे दीक्षा लेने आती हैं, तब पूरे ब्राह्मण समाज में खलबली मच जाती है। सारे ब्राह्मण उनके खिलाफ हो जाते हैं कि 'जूते गाँठनेवाले चर्मकार ने एक राजकुल की क्षत्राणी महिला को दीक्षा दी।' इस बात से खफ़ा राजपुरोहितों ने काशी पंडितों को भड़काया और पूरे ब्राह्मण समाज को उनके खिलाफ खड़ा कर दिया। उनका कहना था कि 'रविदास चर्मकार अस्पृश्य होते हुए, सवर्ण राजमहिषी को दीक्षा देकर, अपनी सीमा का अतिक्रमण किया है। उन्होंने परंपरा और शास्त्र के विरुद्ध सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन किया है।' इस बात से दुःखी संत सेन महारानी झाली से कहते हैं-"झगड़े की वजह आप नहीं। झगड़े का कारण दीक्षा नहीं। झगड़े का कारण हमारी जाति है। हमारा अछूत होना है। कोई कम अछूत है, कोई ज्यादा।"[२२]

आत्म-सम्मान के लिए संघर्ष- किसी नीची जाति के व्यक्ति के लिए समाज में सम्मान पाना बहुत ही बड़ी बात होती है। यदि सम्मान के लिए समाज की व्यवस्था और जाति व्यवस्था के कारण संघर्ष करना पड़े; तो वह सबसे निकृष्ट बात है। आज भी कोई सवर्ण नीची जाति को 'दलित' और 'शूद्र' कह कर गरियाने लगता है। भले ही सरकार ने नीची जातिवालों को 'दलित' कहना निषद्ध कर दिया हो। रविदास जी को उस समय में सम्मान पाना कितना जटिल था। उदाहरण के लिए जब रविदास जी का चित्तौड़ की महारानी झाली अपने गुरु रविदास का सम्मान पहले करती हैं। तब यह बात ब्राह्मणों को अच्छी नहीं लगती है। वहाँ रानी को विरोध का सामना करना पड़ता है। ब्राह्मणो का कहना था कि 'अपने राज्य में एक से एक विद्वान ब्राह्मण हैं, उनके रहते हुए रानी ने एक शुद्र का सम्मान किया। राजकुल में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ कि शूद्र को किसी ने गुरु बनाया हो?' जब भोजन का समय आता है तो रविदास के साथ कोई भी ब्राह्मण भोजन करना नहीं चाहता क्योंकि उनके सामने उनकी जाति और वर्ण आ जाते हैं। इस तरह के भेदभाव आज भी हमारे समाज में देखने को मिल जाते हैं। आज

भी ब्राह्मण नीचे जाति के साथ भोजन-पानी करने के लिए इंकार करता है।

**निष्कर्ष-** अतः निष्कर्षतः कह सकते हैं कि 'संत रविदास की राम कहानी' उपन्यास में रविदास के माध्यम से लेखक ने जाति विमर्श को केंद्र में लाने का काम किया है। जहाँ एक व्यक्ति को शिक्षा-दीक्षा, सम्मान और अस्मिता के लिए जाति व्यवस्था से संघर्ष करना पड़ता है। जाति व्यवस्था के कारण ही व्यक्ति को अस्पृश्य समझा जाता है, उससे भेदभाव किया जाता है। आज के समय हमारे समाज में भी सामाजिक असमानताओं और इसी जाति-व्यवस्था के कारण मनुष्य-मनुष्य में भेद, ऊँच-नीच का भाव, छुआछूत का भाव बना हुआ है, जिसके के कारण बहुत-सी अछूत जातियाँ अपने धर्म और जाति का त्याग कर दूसरे धर्म को अपनाने लगी हैं। वर्तमान परिदृश्य में पूरे के पूरे गाँव इसी जातिगत भेदभाव के चलते धर्म परिवर्तन कर रहे हैं। जाति-व्यवस्था एक प्रकार का दंश है, जिस दिन से यह व्यवस्था लागू हुई थी शायद वह भारतीय समाज का सबसे बुरा दिन होगा। इसलिए रविदास एक यूटोपिया की कल्पना करते हैं, जिसका नाम 'बेगमपुर' रखते हैं; जहाँ सामानता-समरसता होगी, जहाँ लोगों को कोई दुःख न हो, पीड़ा न हो, न ही लड़ाई, अछूतपन और जातिगत भेदभाव न हो, न ही किसी का शोषण-उत्पीड़न हो। यही बातें इस उपन्यास को सदियों तक प्रासंगिक बनाए रखेंगी।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. दीपक, देवेंद्र, टिप्पणी-बलदेव वंशी, संत रविदास की रामकहानी, आर्यन प्रकाशन मंडल, दिल्ली, संस्करण २०११, अवरण पृष्ठ
२. वही, पृष्ठ ६
३. प्रो. द्विवेदी, संजय, हिंदी साहित्य के मौन साधक,ू ण्चतंईींीपण्बवउ
४. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण २०२३, पृष्ठ १८७
५. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, संस्करण २०२०, पृष्ठ १७३
६. दीपक, देवेंद्र, संत रविदास की रामकहानी, आर्यन प्रकाशन मंडल, दिल्ली, संस्करण २०११, पृष्ठ ६
७. वही, पृष्ठ ३४
८. सिंह, इंद्रराज, संत रविदास, प्रकाशन विभाग, संस्करण १९८६, पृष्ठ १०३
९. दीपक, देवेंद्र, संत रविदास की रामकहानी, आर्यन प्रकाशन मंडल, दिल्ली, संस्करण २०११, पृष्ठ ३०
१०. वही, पृष्ठ २७
११. नैमिषराय, मोहनदास, भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास भाग-१, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण २०२३, पृष्ठ ३६

१२. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, श्री प्रकाशन, पृष्ठ ६६
१३. दीपक, देवेंद्र, संत रविदास की रामकहानी, आर्यन प्रकाशन मंडल, दिल्ली, संस्करण २०११, पृष्ठ ३४
१४. वही, पृष्ठ ३४
१५. तिवारी, पं. नंदकिशोर, (संपादन), चाँद (अछूत अंक), राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण १९२७, आवृत्ति १९९८, पृष्ठ ८
१६. दीपक, देवेंद्र, संत रविदास की रामकहानी, आर्यन प्रकाशन मंडल, दिल्ली, संस्करण २०११, पृष्ठ ३६
१७. वही, पृष्ठ ५२
१८. वही, पृष्ठ ५३
१९. वही, पृष्ठ ६८
२०. वही, पृष्ठ १३१
२१. वही, पृष्ठ १३२
२२. वही पृष्ठ १४९

**स्थाई पता-ग्राम-राजेपुर सांडी रोड**
**हरदोई-२४१००१ उत्तर प्रदेश**
**वर्तमान पता-व्हाइट हाउस लॉज,**
**काशीपुरम कॉलोनी, वाराणसी-२२१०११**
**मो. ९९१८५२९४७९, ८७०७३५९१६८**
**Email – hind479amit@gmail.com**

# आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन

–मिथलेश कुमार मौर्य

भारत विविधता में एकता का देश है। युगों-युगों से भारतीय समाज में अनेक वर्ण, जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय के लोग एक साथ रहते हैं। आदिवासी समुदाय भी अनेक कार्य-व्यापारों के साथ एकत्रित होकर रहते हैं। आज भी बहुत से आदिवासी जंगल, पहाड़ों और दुर्गम प्रदेशों में रहकर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अनेक वर्षों से यह समुदाय अन्य सभ्यता और संस्कृति से दूर होने के कारण कई मामलों में आज भी पिछड़े हुए हैं। आदिवासियों ाक अपना एक इतिहास रहा है। इनके रहन-सहन, खान-पान, बोली, भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज आदि अन्य समुदाय की अपेक्षा भिन्न है। साहित्य मात्र समाज को ही निर्मित नहीं करता, बल्कि उसके चहुँमुखी विकास में भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यास में समाज का चित्रण उपन्यासकारों ने समय-समय पर किया है, और उस उपन्यास में आदिवासियों की स्थिति को भली-भाँति से परिचित कराया है तथा निरन्तर प्रयास करते भी आ रहे हैं। आदिवासी यहाँ के मूल निवासी हैं, किन्तु आज भी उन्हें उपेक्षितों का जीवन जीना पड़ रहा है। इसी को रेखांकित करते हुए ''मैत्रेयी पुष्पा'' अपने शब्दों में लिखती है कि ''कभी-कभी सड़कों, गलियों में घूमते या अखबारों की अपराध सुर्खियों में दिखायी देने वाले कंजर, सासी, नट, मदारी, सपेरे, पादरी, हबूदे, बंजारे, बावरिया, कबूतरी न जाने कितनी जनजातियाँ हैं, जो सभ्य समाज के हाशिए पर डेरा लगाए सदियों गुजार देती हैं- हमारा उनसे चौंकना सिर्फ काम चलाउ ही बना रहता है। उनके लिए हम हैं 'कज्जा' और 'दिक्' यानी सभ्य, सम्भ्रान्त 'परदेशी' उनका इस्तेमाल करने वाला शोषक उनके अपराधों से हरते हुए मगर अपराधी बनाये रखने के आग्रही।''[१]

## आदिवासी का अर्थ

आदिवासी शब्द काल विशेष शब्द है, आरम्भ से ही एक विशेष स्थान पर निवास करने वाले को आदिवासी की संज्ञा दी गई है, अर्थात् ''इस भूलोक का मूलवासी।''

## आदिवासी शब्द की परिभाषा

'आदिवासी शब्द का तात्पर्य है ''मूल निवासी' 'बनवासी' या 'जंगली' आदि भारतीय संविधान में इन्हें अनुसूचित जनजाति के नाम से सम्बोधित किया गया है।''[२]

आदिवासी जीवन पर केन्द्रित हिन्दी उपन्यास अपने विकास यात्रा के क्रम में आदिवासी जीवन को रेखांकित करते हुए सार्थक साहित्य के रूप में उभर कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। 'सूरज किरण की छांव' से 'गायब होता देश तक' देखे तो तमाम उपन्यास हैं। जिनमें आदिवासी समाज की संस्कृति और उनके लोक जीवन की खूबियों को प्रत्येक स्तर पर समेटने की चेष्टा हुई है। आदिवासी समाज जिसे हम चौथी दुनिया भी कहते हैं। उसका अपना ही एक अलिखित वाड्मय इतिहास रहा है। उनका इतिहास और भूगोल वैश्विक होाती दुनिया में प्रायः एक जैसा ही है। आदिवासी केन्द्रित उपन्यास लेखन की परम्परा हिन्दी साहित्य में स्वतन्त्रता पूर्व से ही दृष्टिगत होती है। जब हम आदिवासी जीवन सम्बन्दी उपन्यासों पर ऐतिहासिक दृश्य डालते हैं, तो सर्वप्रथम १८९९ ईस्वी में 'बसंती माला' जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का उपन्यास जो मुंगेर जिले के मलयपुर क्षेत्र में निवास करने वाले गरीब मल्लाह आदिवासी पर केन्द्रित है। उसके बाद १९०७ ईस्वी में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'अधखिला फूल' में आदिवासी जीवन की कुछ झलकियाँ दिखाई। इसके अतिरिक्त बृजनन्दन सहाय की 'अरण्यबेला' १९४० ईस्वी और मन्नत द्विवेदी का 'रामलाल' १९०४ ईस्वी में भी आदिवासी जीवन के कुछ अंशों का चित्रण मिलता है। आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यास 'वन विहंगिनी' जो राम चीज वल्लभ द्वारा रचित है। इसमें संथाल परगना के कोल आदिवासी युवतियों की दशा एवं दिशा पर आधारित है। इस कृति में उपन्यासकार ने आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रकाशित करने में सफलता प्राप्त की है।

''प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन की सही तस्वीर राम चीज की 'वन विहंगिनी' (१९०९) कृति में दृष्टिगत होती है। संथाल परगना के आदिवासी क्षेत्र के कोल कुमारियों का जीवन-संघर्ष उनकी वेश-भूषा, उनकी भाषा, उनका रहन-सहन, उनके देवी-देवता, उनकी संस्कृति, उनके पर्व, त्यौहार एवं उससे निर्मित मानसिकता का अच्छी तरह से अध्ययन प्रस्तुत हुआ है।''[३]

१९३० ई० में रामदीन पाण्डेय ने 'कोरा कुमारी' नामक उपन्यास की रचना की। जिसके केन्द्र में एक आदिवासी युवती है, लेकिन अफसोस की बात यह है कि हिन्दी साहित्य के चिन्तकों, समीक्षकों एवं आलोचकों द्वारा इन उपन्यासों को दरिकिनार कर दिया गया। इन उपन्यासों को आंचलिक श्रेणी के उपन्यासों में स्थापित करने के कारण इन पर विभिन्न दृष्टिकोण से चर्चा परिचर्चा या समीक्षा करने की कोशिश नहीं हुई है। वर्तमान के आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों की तरह उनका मूल्यांकन न हो सका, जिस तरह से आजकल समीक्षा की जा रही है। वर्तमान समय के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में आदिवासी जीवन के मर्म को ढूँढ़ निकाला है। जो घने जंगलों, पहाड़ों एवं दुर्गम स्थानों पर निवास करने वाले

आदिवासी का वास्तविक जीवन दर्शन क्या है? उसके आस-पास घटित होने वाली घटनाओं से रूबरू कराने के साथ-साथ आदिवासी जीवन एवं उनकी सामाजिक समस्याओं की वास्तविकता का अंकन प्रस्तुत किया जा रहा है।

आधुनिक समय में आदिवास जीवन का इतिहास एवं वर्तमान दोनों ही उपन्यास की श्रेणी के आधारशिला के रूप में प्रस्तुत की गई है। जिसके फलस्वरूप आज २१वीं सदी के हिन्दी साहित्य में 'आदिवासी विमर्श' या 'आदिवासी साहित्य' दिन-प्रतिदिन प्रगति की ओर उन्मुख हो रहा है। वर्तमान समय में आदिवासी जीवन पर लिखित उपन्यास हिन्दी साहित्य का एक प्रमुख अंग बन चुका है।

आदिवासी साहित्य में एक ओर आदिवासी चेतना की पहल है, तो दूसरी तरफ इनके जीवन में दिन-प्रतिदिन पनप रही अनेक जटिल समस्याओं का दृश्य प्रस्तुत किया गया है। आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या विस्थापन की रही है। जिसके फलस्वरूप उन्हें अपनी पैतृक जमीनों के साथ-साथ सभ्यता एवं संस्कृति से दूर होना पड़ा।

डॉ० पण्डित बन्रे के शब्दों में ''भारतीय साहित्यकारों ने आदिवासी की सभ्यता, शोषण, अस्मिता की पहचान, आंचलिक भाषा आदि को महत्त्व दिया है। भारत में आदिवासी समाज, संस्कृति और साहित्य का संकट तो सदियों से ही रहा है, अब तो अस्तित्व का संघर्ष जारी है। नस्लवाद, विस्थापन, जल, जंगल, जमीन से बेदखल होने के प्रति आदिवासी चेतना जगी है। कारखानों का विकास हो या खनिज अयस्कों की खदानों का, बहुउद्देश्यशीय परियोजनाओं का निर्माण ही या मल्टीप्लेक्स मॉल्स हो आदिवासी ही विस्थापित हुआ है।''[४]

आधुनिकता और भूमण्डलीकरण के इस दौर में आदिवासी केन्द्रित उपन्यासों का सृजन अनेक प्रकार से किया जा सकता है, जिसमें आदिवासी सभ्यता और संस्कृति, बेकारी एवं बँधुआ मजदूरी, धर्मान्तरण से प्रभावित, चेतना एवं विद्रोहपरक, विकास एवं विस्थापन, वैश्वीकरण से प्रभावित, आदिवासी स्त्रियों की दिशा एवं दशा, स्वतन्त्रता पूर्व एवं पश्चात् की आदिवासी स्थित, सरकारी कर्मचारी, साहूकारों, जमींदारों एवं वर्चस्वादियों द्वारा शोषण एवं अत्याचार, आदिवासी ऐतिहासिकता, नस्लवाद और माओवाद जैसी गम्भीर समस्या, विकास की नीतियाँ एवं उनका दुरुपयोग आदि को आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासकारों ने आदिवासी जीवन के सम्पूर्ण परिवेशों एवं परिदृश्यों को अलग-अलग स्थानीय समस्याओं एवं प्रवृत्ति के आधार पर अंकन किया है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले आदिववासियों की समस्याएँ उनके क्षेत्रीय प्रवृत्ति और सत्ता के अनुरूप अलग-अलग होती है। कुछ आदिवासी समुदायों की जनसंख्या दिन-प्रतिदिन काफी मात्रा में बढ़ रही है, जैसे-भील और गोंड तो कुछ आदिवासी समुदायों की जनसंख्या लगातर गिरती दिखाई दे रही है, जैसे-अन्दमानी, ओंगी और टोडा

आदि ईसाइयों को धर्मान्तरण के कारण आदिवासियों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भूचाल-सा आ गया है। उनकी समझ में यह नहीं आता कि हम किस दिशा की ओर हैं और हमें कहाँ जाना चाहिए एसी स्थिति में कबीर की एक पंक्ति सही साबित होती है कि ''दो पाटन के बीच में, साबुत बचा ना कोय।''

आज आदिवासी समाज धर्मान्तरण के कारण द्वन्दात्मक जीवन के अवसाद से मुक्त न होकर छटपटाहट भरा जीवन जीने को मजबूर है। ''भूमण्डलीकरण, बाजारीकरण, बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद, सत्ता, राजनीति और धर्म के बदलते समीकरण, बढ़ती हुई सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, नारी की, दलितों की, आदिवासियों की चेतना के स्वर आदि कई मुद्दे समकालीन उपन्यासों को लिए चुनौती बने हुए हैं, जिन्हें समकालीन रचनाकार उद्घाटित कर रहा है।''[५]

इस तरह वर्तमान कालीन समस्याओं को आदिवासी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से उजागर करनो का कार्य किया है।

आदिवासियों को केन्द्र में रखकर आंचलिक उपन्यासकारों ने भी अनेक उपन्यासों में लिखा है। जिनमेां रामदरश मिश्र का कथन है- ''आंचलिक उपन्यास 'अंचल' के समग्र जीवन का उपन्यास है, तो प्रकाश बाजपेयी ने जनपद के समय जीवन को प्रमुखता देकर, आंचलिक उपन्यासों में आदिवासी अथवा आदिम जातियों का चित्रण होना ऐसा माना है।''[६]

अधिकतर आंचलिक उपन्यास आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये। जिनमेां 'रथ के पहिए', 'जंगल के फूल', 'शैलूष', 'कब तक पुकारूँ', 'सागर लहरें और मनुष्य तथा मैला आँचल' आदि प्रमुख हैं। इस सम्बन्ध में गोपाल राय का कथन है कि ''आजादी के बाद आदिवासियों के जीवन का चित्रण करने वाले प्रथम उपन्यासकार 'देवेन्द्र सत्यार्थी' हैं, जिन्होंने 'रथ के पहिए' में मध्य प्रदेश को 'गौंड' जनजाति के जीवन यथार्थ का प्रामाणिक और संवेदना सिंचित अंकन किया है।''[७]

स्वतन्त्रता के पश्चात् आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यासों की सृजन में वृद्धि हुई और दिन-ब-दिन यह अपने क्षेत्र को विस्तारित करता गया है।

आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में विकास और रोजगार देने के नाम पर फैक्ट्री खोलने, आदिवासियों को उनके जल, जंगल, जमीन से वंचित कर देता है। जब वे अपने संसाधनों और अपनी अस्मिता की रक्षा को लिए संघर्ष करते हैं, तो उन्हें जेल में ठूँस दिया जाता है। आदिवासी साहित्य को जरूरत का साहित्य भी कहा जा सकता है। इसमें अस्मिता, अधिकार और आत्म-सम्मान का संघर्ष विद्यमान है। हिन्दी उपन्यासकार आदिवासियों की जरूरत को पहचानता है, और उनके संघर्ष की लाई में शामिल होकर उन्हें जागरूक भी बनाता

है। इसी जागरूकता तथा सामूहिकता से कामयाबी की रोशनी निकल कर आती है, और भविष्य के प्रति एक उम्मीद जगाती है।

भूमण्डलीकरण के बाद आदिवासियों का आर्थिक जीवन काफी प्रभावित हुआ है। इसका कारण है कि उनके जीवन का आर्थिक आधार बहुत हद तक जंगलों पर ही टिका हुआ है, इसलिए इनके यहाँ आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था का ही विस्तार है। इस व्यवस्था के विस्तार में शिक्षा, जनसंचार, तकनीकी, सरकार तथा संविधान आदि की सक्रिय भूमिका है। आदिवासी उपन्यासों में हम खेती, खदानों को जीवन, कर्ज, नौकरी, बनोपज इत्यादि क्रिया-व्यापारों को भी इनके आर्थिक जीवन में हम देख पाते हैं। जिनसे उनका भरण-पोषण होता है। कई बार अर्थाभाव मेां आदिवासी स्त्रियों को वेश्यावृत्ति जैसे कुकर्म भी करने पड़ते हैं। मसलन, संजीव के उपन्यास 'धार' एवं विनोद कुमार के उपन्यास 'समर शेष है' में बहुत ही अच्छी तरीके से प्रस्तुत किया गया है। दूसरी ओर आदिवासी समाज की धार्मिक मान्यताओं के स्वरूप का चित्रण भी आदिवासी उपन्यास में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र भारत के संविधान की खूबसूरती है।

आदिवासी समाज के लोगों को प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन करना, धार्मिक कठमुल्लेपन की निशानी है। प्रायः गरीबी को लालच देकर उनकी घर वापसी करवाई जाती है। जो कहीं-न-कहीं आदिवासी समाज को चोट कर उन्हें विस्थापन के लिए मजबूर करता ही है। आदिवासी समाज को और उनकी पहचान को नष्ट करने का माध्यम धर्म परिवर्तन ही है। आदिवासी समाज प्रकृति पूजा में ही विश्वास करता है तथा वह उपासना एवं आराधना भी पहाड़ों, नदियों, वृक्षों एवं सूर्य की ही करते हैं। पर्यावरण ही उनके लिए धर्म है। मूलतः आदिवासी समाज 'सरना धर्म' को मानते हैं। जोा प्रकृति एवं उनके पूर्वजों से मिलकर बनता है। इसलिए रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' में आदिवासियों को अपने पूर्वजों को याद करते दिखाया गया है। इन सभी बातों के बीच में कभी-कभी देवीय प्रकोप से बचने के लिए आदिवासी समाजों में जादू-टोना जैसी चीज भी देखने को मिलती है। जो सिर्फ शिक्षा और अन्धविश्वास का परिणाम न होकर ताकतवरों के द्वारा भूमि हड़प नीति को भी सामने लाता है। 'धार' उपन्यास 'संजीव' का है, जिसमें वह ओझा जो पैसा न देने पर गाँव से निकलवाने की बात करता है, इसके अलावा इस मसले में बलि प्रथा को भी खूब फलता-फूलता दिखाया गया है।

आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासो ंमें स्पष्ट रूप से हम देखते हैं कि आदिवासियों की आबादी का बड़ा हिस्सा शोषित एवं प्रताड़ित है। इन उपन्यासकारों ने आदिवासी समाज के पर्यावरण से एकाकार होने को दर्शाया है। हमारे देश की सामासिक एवं सामवेशी संस्कृति का

भी मुहावरा गढ़ते हैं। जो आदिवासी समाज का अपना वैशिष्ट्य है। इन उपन्यासों ने आदिवासी प्रतिरोध के स्वर और उस स्व की भवितव्यता का समीकरण सही तरह से चिन्हित किया है। आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी पक्ष, आदिवासी जीवन तथा संस्कृति के संरक्षण के बहाने हमारी प्रकृति-पर्यावरण और हमारे मनुष्य होने के संवेदनात्मक ज्ञान की सजग पहरेदारी करता है। इस निष्ठावान चेष्टा से भविष्य के ऐसे भारत की कल्पना करना अनुचित न होगा, जहाँ एक भारत में, एक श्रेष्ठ भारत को देखने की बुनियादी समानता और न्यायप्रियता पर टिकी होगी।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली

२. भारत की जनजातियाँ, राम शिवलोचन शर्मा, पृ० ६०

३. वाङ्मय, आदिवासी विशेषांक-२ (त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका), सं० डॉ० एम० फिरोज अहमद, अलीगढ़, अक्टूबर २०१३, - मार्च २०१४, पृ० ११

४. हिन्दी साहित्य में आदिवासी विवमर्श, डॉ० पण्डित बन्ने, अमन प्रकाशन, कानपुर, २०१४, पृ० ७

५. समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, डॉ० शिवाजी देवरे, डॉ० मधु खराटे, विद्या प्रकाशन, कानपुर, २०१३, पृ० १३०

६. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासो में आदिवासी जनजीवन, डॉ० भरत सागरे, दिव्या डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, पृ० २०

७. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, डॉ० गोपाल राय, पृ० ४२८



**-शोधछात्र**

**गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद**

**ई-मेल-mithleshkumarmaurya1984@gmail.com**

**मो. : ८७३७८०७६१६**


⊙

# छायावाद की सौन्दर्यानुभूति और जयशंकर प्रसाद

–डॉ० लता कुमारी

## सौंदर्यानुभूति

मानवीय संस्कृति के विकास के साथ ही मनुष्य की सौंदर्यानुभूति के विकास का इतिहास संबद्ध है। लाखों साल जंगलों और कंदराओं में गुजारने वाले मनुष्य ने भाषा के विकास के साथ-साथ अपनी सौंदर्यानुभूति का विकास किया। सौंदर्य एक व्यापक शब्द है। उसे हम अंग्रेजी के 'ब्यूटी' शब्द के सीमित अर्थ में नहीं ले सकते। भारतीय संस्कृति के संदर्भ में सौंदर्य का तात्पर्य प्रकृति, जीवन, धरती और एक तरह से पूरे ब्रह्मांड में निहित शुभ और सत्य का बोध है। भारतीय सौंदर्यबोध बाह्य सौंदर्य तक ही स्वयं को सीमित नहीं करता, इसकी तलाश आंतरिक सौंदर्य की है। कालिदास की शकुंतला मात्र दैहिक सौंदर्य की प्रतीक नहीं है, उसका सौंदर्य प्रकृति के सौंदर्य से तदाकार है। साथ ही वह मन की सात्विकता से भी संबद्ध है। वैदिक काव्य से लेकर संस्कृत की महान काव्य परंपरा तक हम जिस सौंदर्यबोध को विद्यमान पाते हैं, वह अत्यंत विशिष्ट है। कालिदास की कविता हो या बाणभट्ट का गद्य, जयदेव और विद्यापति के गीत हों या माघ और भतृहरि की रचनाएं, सौंदर्यबोध का एक खास भारतीय प्रकार उनमें उपस्थित मिलता है। फ्रांसीसी, ब्रिटिश, रूसी, अमेरिकी व अन्य यूरोपीय और एशियायी साहित्य से भारतीय सौंदर्यबोध को स्पष्टतः अलग करके देखा जा सकता है। संसार के इन दूरस्थ हिस्सों का सौंदर्यबोध इनकी अपनी संस्कृति की उपज है, ठीक वैसे ही जैसे भारतीय सौंदर्यबोध भारतीय संस्कृति का परिणाम। इसी कारण प्राचीन काल से ही विश्व के अलग अलग हिस्सों के काव्य में आधारभूत अंतर दिखाई पड़ता है। यह अंतर सबसे अधिक सौंदर्यानुभूति में परिलक्षित होता है। नरेश मेहता इसकी व्याख्या इस तरह से करते हैं, ''सामान्य अर्थ और स्थिति में भारतीय कविता भी किसी अन्य देश या जाति की कविता की ही तरह उस देश तथा जाति की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक आशा-आकांक्षाओं की वाहिका रही है। ...इन तथा अन्य समानताओं के बावजूद भारतीय काव्य की स्थिति भारतीय समाज में काफी कुछ भिन्न भी दिखलाई देती है। सामान्य रूप से मनुष्य मात्र एक कहे जा सकते हैं फिर भी भौगोलिक और ऐतिहासिक परिवेश तथा परिस्थितियों ने सबकी पृथक पहचान को स्वरूपित निरूपित भी किया है।'' भारत में संस्कृति का विकास इसके भूगोल और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पृथक ढंग से हुआ है। तात्पर्य यह कि वेद और उपनिषद इसी भूमि

पर रचे जा सकते थे और कालिदास भी यहीं हो सकते थे, ठीक वैसे ही जैसे शेक्सपियर और कीटस इंग्लैंड में। यहां प्रश्न श्रेष्ठता का नहीं, बल्कि इस बात का है कि मनुष्य ने प्राचीन काल में पृथ्वी के अलग अलग हिस्सों में अलग अलग ढंग से संस्कृति का विकास किया और इस संस्कृति ने हर भूखंड के सौंदर्यबोध को उसका विशिष्ट रूप दिया। यों तो भारत की सभी भाषाओं का साहित्य इस विशिष्ट भारतीय सौंदर्यबोध का वाहक है। परंतु संस्कृत साहित्य को इसकी आधार-परंपरा कहा जा सकता है। हिंदी कविता में सौंदर्यबोध का विकास जहां एक ओर प्रत्यक्षतः संस्कृत साहित्य से जुड़ता है वहीं दूसरी ओर हिंदी क्षेत्र की भाषाओं, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि के लोक व शास्त्रीय साहित्य से। आधुनिक हिंदी साहित्य में छायावाद युग इस सौंदर्यबोध के विकास और इसके उत्कर्ष का काल कहा जा सकता है।

## छायावाद और सौंदर्यानुभूति

भारत में आधुनिक साहित्य १९ वीं सदी में स्वरूपित होना आरंभ हुआ। यह प्रक्रिया भारत की सभी भाषाओं में हुई। परंतु पहले बांग्ला तत्पश्चात हिंदी में इसने अपना विशिष्ट स्वरूप ग्रहण किया। बांग्ला में रवींद्रनाथ ठाकुर इसके आदि पुरस्कर्ता बने तो हिंदी में छायावाद की महान प्रतिभाओं - प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी ने अपनी रचनाओं से इस आधुनिकता को रचा। छायावाद का यह काव्य एक ओर व्यक्ति स्वातंत्र्य का काव्य था तो दूसरी ओर इसका अंतःस्वर राष्ट्रीय जागरण का था। व्यक्ति और राष्ट्र के अंतर्मन की गहन अनुभूति ने छायावाद को गढ़ा। व्यक्ति स्वातंत्र्य हिंदी साहित्य में पहली बार छायावाद में मुखरित हुआ। एक तरह से यह समूचे भारतीय साहित्य में अपनी तरह की अलग परिघटना थी। सूरदास, तुलसीदास, रहीम, कबीर आदि से बनने वाली हिंदी की काव्य परंपरा मध्यकालीन काव्य परंपरा थी। यहां व्यक्ति नहीं था। निर्वैक्तिक भावनाओं की कविता इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी। ये भावनाएं प्रकृति के सौंदर्य से जुड़ी हों या प्रेम से, इनमें आध्यात्मिक जिज्ञासाएं हों या समाज सुधार की वाणी, सब कुछ एक सामाजिक स्वरूप लेकर ही व्यक्त होता था। रचनाकार व्यक्ति था, पर रचना वैयक्तिक नहीं थी। सूरदास और मीरा की निजी अनुभूतियों ने धर्म और आध्यात्म के स्तर पर अपना उदात्तीकरण कर लिया था। यही उस युग में स्वाभाविक भी था। यही उस काव्य की शक्ति और उपादेयता भी थी। व्यक्ति-बोध मध्यकाल में संभव नहीं था। इसी कारण व्यक्ति की निजी अनुभूतियों का साहित्य में प्रकटीकरण भी संभव नहीं था। प्रसाद ने इसे गुंफित भाषा में इस तरह से परिभाषित किया था- ''अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अंतर-स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमयी होती है-यथार्थवाद''

पश्चिम में विज्ञान के तेज विकास ने जो परिस्थितियां पैदा कीं उनसे वहां के समाज में पुनर्जागरण और क्रांतियां जनमीं। फिर १८वीं सदी में औद्योगिक क्रांति ने समाज का रूप ही

बदल दिया। इतिहास के रंगमंच पर व्यक्ति का अभ्युदय हुआ। वह अब भी समाज का हिस्सा था। पर पहले वह एक ईकाई था, व्यक्ति था बाद में समाज का अंग। इन्हीं सब ऐतिहासिक प्रक्रियाओं ने पश्चिम में आधुनिकता को जन्म दिया। उपनिवेशीकरण के साथ यह आधुनिकता भारत में आई। पुराने कुटीर उद्योगों वाला भारत आरंभिक औद्योगिक शहरों में बदलने लगा। शिक्षा का ढांचा बदला। कुल मिलाकर १९ वीं सदी खत्म होते होते भारत में बहुत से परिवर्तन हो चुके थे। इन परिवर्तनों ने समाज में नई तरह की हलचलें पैदा कर दी थीं। साथ ही समाज सुधार और राष्ट्रीय आंदोलन ने भी विस्तार ले लिया था। इसी परिस्थिति में छायावादी काव्य का जन्म हुआ। पूर्ववर्ती द्विवेदीयुगीन काव्य परंपरा से इसका स्पष्ट विलगाव दृष्टिगोचर था। भाषा, भाव, अनुभूति, शिल्प, अभिव्यक्ति हर स्तर पर यह पूर्ववर्ती साहित्य से न सिर्फ बहुत अलग था, अपितु गुणात्मक रूप से अत्यंत प्रगल्भ और विकसित भी था। इस छायावादी साहित्य का सौंदर्यबोध भी पूर्ववर्ती साहित्य परंपरा से बिल्कुल भिन्न धरातल पर खड़ा था। यदि प्रसाद के शब्दों में कहा जाए तो-

**मानस का स्मृति शतदल खिलता झरते बिंदु मरंद घने**
**मोती कठिन पारदर्शी ये - इनमें कितने चित्र बने**
**आंसू सरल तरल विद्युत्कण, नयनालोक विरह तम में**
**प्राणपथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना जग रचने।**

-कामायनी, स्वप्न सर्ग

हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों की नायिकाएं मिथकीय थीं और उनकी भावनाएं और अनुभूतियां अतीत के संसार के अनुरूप थीं, भले ही कवियों ने उनमें आधुनिक मूल्य और बोध रचने की चेष्टा की हो, पर वे अपनी संपूर्ण निर्मित में आधुनिक नहीं थीं। प्रसाद और निराला, पंत और महादेवी के काव्य में जो स्त्री थी, वह पूरी तरह से आधुनिक थी। यदि उसे मिथकीय संसार से लिया भी गया हो तो भी उसका विन्यास, उसका मनोजगत पूरी तरह आधुनिक था। यह एक नए सौंदर्यबोध का काव्य था। छायावाद दरअसल अपने पूर्ववर्ती और बाद के काव्य से सबसे अधिक भिन्न अपने सौंदर्यबोध में ही है। छायावाद के माध्यम से हिंदी में और प्रकारांतर से भारतीय साहित्य में पहली बार इतने व्यापक रूप से और इतने सशक्त रूप से आधुनिक सौंदर्यबोध अवतरित हुआ था। यह सौंदर्यबोध यों ही नहीं रूपायित हो गया, इसके पीछे इतिहास की लंबी प्रक्रिया थी। एक स्वाधीन संस्कृति का सुदूर समय में विकास और पल्ल्वन फिर कालांतर में उसका पराभव और फिर १९वीं सदी में पहले सुधार तत्पश्चात स्वाधीनता संग्राम के द्वारा राष्ट्र का जागरण। जयशंकर प्रसाद के पुत्र व हिंदी के अत्यंत प्रतिष्ठित विद्वान रत्नशंकर प्रसाद ने प्रसाद साहित्य पर गहन समीक्षात्मक दृष्टि डालते हुए इन सब स्थितियों पर विचार किया है। भारतीय सौंदर्यबोध के पुनरोदय में

आंसू की भूमिका पर उन्होंने यह मंतव्य दिया-

सौंदर्यबोध की विकास-चेष्टा संस्कृति है, उस चेष्टा के रुद्ध हो जाने से संस्कृति का आयतन बिखर कर एक डीह जैसा कैसे बन जाता है- आज यह नितराम् स्पष्ट है. पिछली कुछ शतियों से भारतीय सौंदर्यबोध विकृत और अनुकरणशील हो गया है, उसे ग्रहण करने के आधार भी दुर्बल हो गए हैं। शौर्य का वर्चस्व ही स्वाधीनता के परिवेश में अपनी 'खुली आंखों' से व्यापक सौंदर्यबोध को ग्रहण कर सकता है- दास्य और पतन से दुर्बल आंखों में तो उसकी छाया भी धूमिल हो जाती है। भारतीय महाजीत जिस व्यापक सौंदर्यबोध को 'खुली आंखों' से निहारती अपनी संस्कृति को संवारती जा रही थी- जातीय पराभव के अवसादकालीन कारण उसमें ऐतिहासिक प्रत्यवाय बन गए। परिणामतः वह व्यापक और विमल सौंदर्यबोध मलिन इयत्ताओं के छोटे-छोटे खंडों में संकुचित होता गया। फिर संस्कृति की महिमा कैसे बनी रहती, जब उसके आधार ही लघिमा के चरण चूमने लगे। काल-प्रवाह में युग-बोध बदलते रहते हैं। यह विकास का सत्य है साथ ही सृजन एवं विनाश का तथ्य भी है। बोधात्मक स्तर पर जैसे यह प्रवृत्ति अग्रसर हुई उसी की प्रतिच्छवि समाज के पार्थिव स्तर पर भी उतरी। जातियों-उपजातियों में समाज के अंश घिरते बंटते-वर्गों को आकार देने लगे। इस प्रकार-भाव और भूत दोनों स्तरों पर उठते आवर्त्त में सौंदर्यबोध और उसकी प्रेमा संस्कृति के निर्वाचित मानव-मूल्य निर्वासित होते गए। मूल कारण था, स्वाधीन, 'खुली आंखों का अभाव और दास्य-दुर्बल परिवेश का प्रभाव!

उपरोक्त उद्धरण में भारतीय सौंदर्यबोध के ह्रास का जो चित्र खींचा गया है, वस्तुतः छायावाद उसी सौंदर्यबोध को अपनी सौंदर्यानुभूति के माध्यम से पुनर्प्राप्त करने का एक काव्य-आंदोलन था और इस अनुभूति के सबसे गहन और प्रामाणिक सृष्टा जयशंकर प्रसाद थे।

## जयशंकर प्रसाद और छायावाद

जयशंकर प्रसाद छायावाद के अग्रणी कवि थे। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, परंतु वे इससे बढ़कर भारतीय आधुनिकता के रवींद्रनाथ ठाकुर के बाद सबसे बड़े सर्जक भी थे। आधुनिक भारतीय सौंदर्यबोध का उनसे बड़ा कवि-रचनाकार हिंदी तो क्या दूसरी भारतीय भाषाओं में भी नहीं है। छायावाद का नामकरण व्यंग्य के रूप में हुआ था, परंतु कालांतर में यह नाम उन प्रवृत्तियों का द्योतक बन गया, जिनका संबंध राष्ट्रीय चेतना और आधुनिक बोध से था। यह संबंध अनेक स्तरीय था। अगर सरल ढंग से कहा जाए तो छायावाद भारतीय व्यक्ति-मन के पुनर्निर्माण का काव्य था। प्रसाद इसी व्यक्ति-मन के सबसे प्रमुख रचनाकार थे। छायावाद की सौंदर्यानुभूति उनके काव्य में मूर्तिमान हुई थी। छायावाद की सौंदर्य संबंधी अवधारणाएं प्रकृति, स्त्री, प्रेम और जीवन के आधारों पर खड़ी थीं। समूचे छायावादी काव्य में प्रकृति का चित्रण

मानवीय अनुभूतियों का दर्पण सा था। प्रकृति अपने विराट रूप में थी और सूक्ष्म रूप में भी। वह व्यक्ति के सुख-दुख का परिवेश रचती थी, तो उससे स्वरूपित भी होती थी। छायावादी कवियों की प्रकृति चेतना मात्र प्रकृति के सौंदर्य वर्णन तक सीमित नहीं थी। पर्यावरण का बोध और प्रकृति की विज्ञान से अलक्षित रहस्यात्मकता उसे एक ओर वैदिक प्रकृति बोध से जोड़ती थी तो दूसरी ओर बीसवीं सदी के संकटों से। छायावादी कवियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण इसी कारण उनके सौंदर्यबोध का एक बड़ा अंश है। प्रसाद के समस्त काव्य में आंसू, लहर, झरना, कामायनी में इसी कारण प्रकृति के व्यापक और संवेदनशील चित्र हमें मिलते हैं। वहां प्रकृति केवल परिवेश-रचना के लिए नहीं है, न ही मानवीय सुख-दुखों की प्रतीक भर है, वह उसका जीवनबोध है।

एक नई स्त्री का आविर्भाव छायावादी काव्य के सौंदर्यबोध का सबसे प्रमुख अंग कहा जा सकता है। प्रसाद के काव्य का यह सर्वाधिक सशक्त पक्ष है। कामायनी से पहले के काव्य में कोई श्रद्धा और इड़ा जैसी नायिका नहीं है। पर प्रायः एक अदृश्य स्त्री चरित्र, एक छवि आंसू से लेकर लहर तक सर्वत्र विद्यमान है। इस छवि के प्रति व्यक्त प्रेम और वियोग के भावों की गहनता और इनका स्वरूप उस स्त्री छवि की व्यक्ति-रेखा को भी स्पष्ट कर देता है। यह स्त्री-छवि एक भावनामयी, अनुभूतिमयी, प्रगल्भ संवेदनशील है। वह गतिशील है, स्वतंत्र और आधुनिक चेतना से बनी है। उसमें स्त्रीत्व ही नहीं है, एक वैयक्तिकता भी आकार लेती दिख रही है। आंसू के छंद और लहर के विरह-गीत यह स्पष्ट संकेत करते हैं कि वह नारी किस रूप-गुण और व्यक्तित्व से बनी है। छायावाद के सौंदर्यबोध का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंश उसकी प्रेम संबंधी अनुभूतियां और विचार हैं। प्रसाद के काव्य में इसकी अत्यंत विस्तृत और उत्कट अभिव्यक्ति हुई है।

छायावाद को नए युग के सौंदर्यबोध का काव्य इसलिए भी कहा गया है कि इसमें प्रेम राधा-कृष्ण का प्रेम नहीं है, या अन्य देवी-देवताओं या पौराणिक चरित्रों का प्रेम नहीं है। यह बीसवीं सदी के शिक्षित भारतीय युवा पीढ़ी की मनोभावनाओं से बना हुआ प्रेम है। आंसू हो या लहर, झरना हो या प्रेम-पथिक प्रसाद जहां भी स्त्री-पुरुष प्रेम का वर्णन करते हैं, वहां उसकी यह विशेषताएं प्रकट होती ही हैं। हालांकि कामायनी के चरित्र प्राचीन शास्त्रीय परंपरा से लिए गए हैं, परंतु उनका निर्वाह पूरी तरह से आधुनिक है। इसी कारण कामायनी में प्रेम का जो रूप उभरता है, वह मिथकीय न होकर सामयिक है। पुरुष प्रभुत्व से नारी का विद्रोह, उसका स्वतंत्र चरित्र, पुरुष से उसकी समकक्षता की दावेदारी, जीवन संघर्ष में उसका द्वितीयक न रह कर सहधर्मिणी होना- यही नहीं बल्कि अग्रणी होना आदि भी कामायनी में बड़ी सजगता से चित्रित किया गया है। प्रसाद का प्रेम उनके सौंदर्यबोध के आधुनिक और परिष्कृत

होने का सबसे बड़ा उदाहरण है। यह सौंदर्यबोध परंपरानुगामी नहीं है, यह उथला भी नहीं है। इसकी जड़ें गहरे मानवीय मनोभावों में हैं। प्रसाद के काव्य में प्रेम की भावना का सतत विकास दिखाई पड़ता है। प्रेम-पथिक एक तरह से इसकी उदघोषणा आरंभ में ही कर देता है-

**इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना**
**किंतु पहुंचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं**

## प्रसाद की सौंदर्यानुभूति का स्रोत

प्रसाद की सौंदर्यानुभूति का स्रोत क्या था? एक स्रोत तो निश्चित रूप से भारतीय परंपरा से प्राप्त था। वे संस्कृत साहित्य में निष्णात थे। पर वांग्मय की परंपरा से जो सौंदर्यबोध उन्हें प्राप्त हुआ था, वह मात्र बाहरी वस्तु थी। उनके काव्य का शिल्प पक्ष इससे गठित हुआ। संस्कृत ही नहीं ब्रज और अवधी भाषाओं के साहित्य का भी इसमें भरपूर योगदान था। परंतु यह प्रश्न फिर भी रह जाता है कि प्रसाद के सौंदर्यबोध के आंतरिक स्तर का निर्माण किन तत्वों से हुआ था। अध्ययन तो इस आंतरिक तत्व को पुष्ट करने का माध्यम भर था। यहां कवि के जीवन और व्यक्तित्व की मीमांसा आवश्यक है। प्रसाद अत्यंत अनुभूतिशील व्यक्ति थे। इस कारण ही उन्होंने न सिर्फ अपने आंतरिक भावों और जीवनानुभूतियों को सूक्ष्मता से साहित्य में उतारा था, अपितु वे अपने युग को उसकी प्रवृत्तियों को और जीवन के विविध रूपों को गहनता से आत्मसात कर सके थे। अध्ययन और जीवन की इस पूरी प्रक्रिया ने उनके मन का गठन एक आधुनिक अनुभूतिप्रवण रूप में किया था। यह मन अपने समकाल का अतिक्रमण करने वाला था। इसीलिए उनकी सौंदर्यानुभूति का स्वरूप अपने समस्त समकालीनों से अलग ही धरातल पर स्थित दिखाई देता है। यह सौंदर्यानुभूति ही थी जिसने श्रद्धा और इड़ा जैसे दो विलक्षण नारी पात्रों को रचा। उन्होंने कामायनी की इन दोनों ही नायिकाओं के सिर्फ बाह्य सौंदर्य का ही रागमय चित्रण नहीं किया, बल्कि उनके व्यक्तित्व और जीवनधारा को भी गहरी तल्लीनता से चित्रित किया।

कामायनी को महाकाव्यात्मक ऊंचाई देने वाला प्रमुख कारण प्रसाद का गहन सौंदर्य-बोध ही है।

उनके काव्य में जगह जगह इस सौंदर्यानुभूति को रेखांकित किया जा सकता है. वे बारंबार मन के सौंदर्य को रेखांकित करते हैं। कामायनी में इड़ा सर्ग में काम जब मनु की भर्त्सना करता है तो वह कहता है-

**पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुंदर जड़ देह मात्र**
**सौंदर्य जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल पात्र**

-कामायनी, इड़ा सर्ग

## प्रसाद काव्य में सौंदर्यानुभूति का निर्वाह

प्रसाद की सौंदर्यानुभूति उनके काव्य में अपने प्रकटीकरण के लिए जिन साधनों का प्रयोग करती है, वे ही उनकी कविता को नवोन्मेष देते हैं। बिल्कुल नए उपमान, नए प्रतीक, नए विशेषण और सर्वथा भिन्न अलंकार पद्धति का वे प्रयोग करते हैं. आंसू में वे गोधूली में आंचल में दीप छिपाए आती छवि का वर्णन करते हैं तो सैकत शैया को वसुधा की करुण कहानी बताते हैं, पर काव्य का समाहार आंसू द्वारा बादल बन कर जगत पर शीतल वर्षा करने के आहवान के साथ होता है। लहर में उनकी सौंदर्यानुभूति बचपन के प्यार को पुकारती हुई 'तुम्हारी आंखों का बचपन खेलता था जब अल्हड़ खेल' कह कर 'तपस्वी के विराग की प्यार, अरी ओ वरुणा की शांत कछार' की ओर मुड़ जाती है। उनकी कविता जिस तरह के बिंब विधान का सृजन करती है वह नवीन सौंदर्यानुभूति के अभाव में संभव ही नहीं था, जिस तरह के प्रसंगों की उदभावना वे झरना, लहर, कानन कुसुम की छोटी छोटी कविताओं में करते हैं, वे अपने साथ पूरा एक जीवनबोध लिए हुए हैं, जिसे एक नवीन मूल्य बोध का संबल प्राप्त है। यह बहुत बार कहा गया है कि साहित्य एक प्रतिसंसार का निर्माण करता है। प्रसाद ने अपने समूचे काव्य में जिस प्रतिसंसार का निर्माण किया, वह उनकी सौंदर्यानुभूति से उपजा था। इस संसार में उन्होंने अतीत और भविष्य का एक कल्पनालोक रचा. जैसा कि प्रख्यात आलोचक रमेश कुंतल मेघ ने लिखा है- 'मानव प्रतीकों और बिंबों का व्यवहार करता है, शाब्दिक भाषा द्वारा संप्रेषण करता है, प्रकृति से संघर्ष करता है और उससे भी बेहतर रचना करता है। वह प्रकृति तथा पर्यावरण के बावजूद कल्पना तथा यथार्थता द्वारा एक प्रतिसंसार का भी निर्माण करता है अर्थात अनुपस्थित अतीत और भविष्य के कल्पनालोक (यूटोपिया) में सुखी-दुखी, खुश-उदास हो सकता है...' कामायनी ऐसा ही एक भव्य कल्पनालोक है, जिसकी रचना में प्रसाद की सौंदर्यानुभूति का निवेश हुआ है.

प्रसाद की कल्पना उनके काव्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह अत्यंत उर्वर है। इस कल्पना का एक सिरा कवि के जीवनानुभवों से जुड़ा है तो दूसरा सिरा भविष्य-दृष्टि से। यही कारण है कि वे कामायनी में प्रलय के महाध्वंस के बाद भी जीवन की जय का काव्य लिखने में सफल हुए। यह उनकी सौंदर्यानुभूति ही थी, जिसने प्रलय के बाद अवसादग्रस्त मनु को श्रद्धा से नवजीवन का संदेश दिलाया. यह संदेश सिर्फ उपदेशपरक नहीं था, उसमें समर्पण और प्यार की एक गहरी अंतर्धारा थी. संसार के अनेक श्रेष्ठ कवियों ने निराशा और मृत्यु को इसी तरह प्रेम और अनुराग के जरिए नवजीवन में रूपांतरित किया है. 'प्यार के निरंतर पुनर्निर्माण की अवधारणा के तहत वह मृत्यु वे पुनर्जन्म को परिचालक शक्तियों के रूप में लेता है और आदर्श स्थिति यह है कि- It is Better to die of Love Than to love without regrets."[७]

## निष्कर्ष

प्रसाद की सौंदर्यानुभूति निरंतर विकासशील रही। हम आज जिसे छायावाद की सौंदर्यानुभूति के नाम से जानते हैं, उसे प्रसाद की कविता ने ही वह स्वरूप प्रदान किया था कि वह अपने युग की मुख्य वाणी बन गई। १६ वीं सदी के पुनर्जागरण, भारत की आजादी की लड़ाई और एक नए भारत के निर्माण के स्वप्न से इस सौंदर्यानुभूति का गठन हुआ था। छायावाद भारत की चेतना में हो रहे परिवर्तन का वाहक बना। मध्यकाल से आधुनिक युग में इस चेतना के प्रवेश का एक द्वार छायावाद था। व्यक्ति-चेतना, साहित्य और युगीन यथार्थ परस्पर मिल गए थे। छायावाद एक नए मनुष्य और एक नए भारत का सांस्कृतिक स्वप्न बन गया था। छायावाद के श्रेष्ठतम कवियों के समस्त सृजन का यह अभिप्राय था। इन सबकी संयोजक कड़ी वह सौंदर्यानुभूति थी, जिसने इस महान काव्य को जन्म दिया था। यह हर कवि में उसके विशिष्ट कवि व्यक्तित्व के अनुरूप प्रकट हुई थी। प्रसाद में यह सर्वाधिक गहनता के साथ अभिव्यक्त हुई। प्रसाद की सौंदर्यानुभूति और छायावाद की सौंदर्यानुभूति इसी अर्थ में परस्पर पर्याय हैं और समूचे एक युग का मुख्य स्वर भी।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. श्रीनरेश मेहता रचनावली, काव्यात्मकता का दिक्काल, प्रकाशक- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-२०१४, पृष्ठ २६७

२. यथार्थ और छायावाद, जयशंकर प्रसाद, जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली, खंड-७ प्रकाशक- प्रकाशन संस्थान, संस्करण-२०१४, पृष्ठ-६३

३. कामायनी, स्वप्न सर्ग, जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली, खंड-२, प्रकाशक- प्रकाशन संस्थान, संस्करण-२०१४, पृष्ठ-१८८

४. आंसू की भावभूमि लेखक-रत्नशंकर प्रसाद, प्रसाद मंदिर संस्करण, सन-१६८४, पृष्ठ-११

५. कामायनी, इड़ा सर्ग, जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली, खंड-२, प्रकाशक- प्रकाशन संस्थान, संस्करण- पृष्ठ- १७५

६. मानवदेह और हमारी देह भाषाएं, लेखक-रमेशकुंतल मेघ, प्रकाशक- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण- २०१५, पृष्ठ-३४६

७. यूरोप के आधुनिक कवि, लेखक-श्रीप्रकाश मिश्र, प्रकाशक- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-२०१० पृष्ठ-८२



**-डॉ. लता कुमारी**
**द्वारा-श्री राजेंद्र प्रसाद**
**जे. पी. मार्ग, रांची-८३४००८**

# आधुनिक हिन्दी के साहित्यिक परिदृश्य में काशी का योगदान

–उपेन्द्र तिवारी

काशी का इतिहास अति प्राचीन है। वेदों, उपनिषदों से लेकर रामायण और महाभारत में काशी का जिक्र कई जगह मिलता है। पुराणों से भी काशी की समृद्ध संस्कृति का पता चलता है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक और आज वर्तमान में भी काशी का अपना एक विशेष महत्व है। आधुनिक समय में काशी के घाट, मंदिर, गली , पान, बनारसी साड़ी और यहां का वातावरण आज भी हृदय को आह्लादित करने वाला है। काशी के गंगा घाट पर आज भी पण्डो का वर्चस्व स्थापित है। यहां की गंगा आरती विश्व में प्रसिद्ध है। बनारस शहर की खूबसूरती वहां के घाटों, गलियों और तरह-तरह के पकवानों के लिए जानी जाती है। काशी को ही आधुनिक काल में ''वाराणसी'' और ''बनारस'' नाम से भी संबोधित किया जाता है। "बनारस को विविध धर्मों का एक वृहद संग्रहालय कहा जाए, तो अनुचित न होगा। भगवान बुद्ध ने तो इसी स्थान से धर्म चक्र प्रवर्तन किया और बहुत दिनों तक या ऐसा कहना चाहिए कि आज भी बौद्धों का तीर्थ है। जैनों के प्रसिद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्म भूमि होने का भी बनारस को गौरव प्राप्त है और इसीलिए बनारस बहुत प्राचीन काल से जैनियों का भी प्रसिद्ध तीर्थ स्थल रहा है।"[१]

देवताओं की नगरी के रूप में विख्यात वाराणसी अनेक रीति-रिवाज, त्योहार, मेलों के लिए भी प्रसिद्ध है। बनारस में कहावत है ''सात वार नौ त्यौहार'' यानी सप्ताह में दिन तो सात होते हैं, पर बनारस में उनमें नौ त्यौहार पड़ते हैं। यह शहर मौज- मस्ती के लिए सदैव प्रसिद्ध रहा है। अपने इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए ही बनारसियों ने अनेक त्योहारों की कल्पनाएं की और लोग बहुत सी छुट्टियां मनाने के लिए बनारस वालों को नकारा ना कहें, इसलिए उन्होंने इनमें से अधिकतर त्यौहारों को भिन्न-भिन्न देवताओं के साथ जोड़ दिया। जिसमें नवरात्र गणगौर मेला, रामनवमी, गंगा सप्तमी, नरसिंह चौदस, गाजी मियां का मेला, गंगा दशहरा, निर्जला एकादशी, स्नान यात्रा, रथ यात्रा, पट परीक्षा, शंकुधारा, दुर्गा जी का मेला, नाग पंचमी, कजरी तीज, लोलारक छठ, सुरैया मेला, रामलीला, दुर्गा मेला, धनतेरस, नरक चौदस, दीपावली, यम द्वितीया, कार्तिकी पूर्णिमा, पंचकोसी मेला, गणेश चौथ, महाशिवरात्रि,

होली, बुढ़वा मंगल आदि त्योहार हैं। प्राचीन काल से लेकर और वर्तमान समय में भी वाराणसी शिक्षा का बहुत ही बड़ा केंद्र रहा है। महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, तथा संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय से परिपूर्ण बनारस नगरी अनेक लेखकों या साहित्यकारों को अपने में समेटे हुए है। यहां अनेक साहित्यकारों ने जन्म लिया और साहित्य के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान भी दिया है। "लोक की सफलता का यह स्वर १५ वीं-१६वीं शताब्दी में पुनः कबीर, रैदास और तुलसी में प्रकट होता है। सत्ता केंद्रित संस्कृति की साधन संपन्नता से टकराते कबीर की 'लुकाठी' का भाष्य करें। आश्चर्यजनक लगता है कि पूर्व मध्यकाल के इस फकीर कवि ने यह जान लिया था कि मनुष्य के लिए सबसे कठिन चुनौती ''बाजार'' है।"[२]

आधुनिक काल में भारतेंदु युग से लेकर द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, और समकालीन में भी साहित्यकारों ने काशी के महत्व को और भी उजागर किया है। बनारस की साहित्यिक परंपरा कबीर, तुलसीदास से लेकर भारतेंदु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मुंशी प्रेमचंद, हजारी प्रसाद द्विवेदी, काशीनाथ सिंह, सुदामा पांडे धूमिल, डॉक्टर देवराज, केशव प्रसाद मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, शांति प्रिय द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, भोला शंकर व्यास, डॉक्टर बच्चन सिंह आदि ने बनारस के साहित्य में सक्रियता की मिसाल पेश की है। इसके आगे भी बनारस में निरंतर साहित्य की धारा प्रवाहित हो रही है।

"शिव प्रसाद मिश्र 'रूद्र' काशिकेय की विलक्षण कथा कृति ''बहती गंगा'' में १८ वीं-१९ वीं शताब्दी का वह छिटपुट बनारस है जिसमें पूरा बनारस देखा जा सकता है।..... ..... बनारस में जितना ठहराव है उससे ज्यादा गति है, जितना वैराग्य है उससे ज्यादा राग , जितनी कलह है उससे ज्यादा मैत्री, जितना आध्यात्म है उससे ज्यादा लौकिकता और जितना शास्त्र है उससे ज्यादा लोक है।"[३]

तुलसीदास को काशी की जड़ता ने उन्हें चारों ओर से घेर रखा था। भाषा और संवेदना के शास्त्रीय ठिकानों की ओर से आने वाली बुराइयां, निंदा और तिरस्कारों को तुलसीदास ने अपार जन समर्थन की उमड़ती महानदी में प्रवाहित कर दिया था। तुलसीदास में विनय के साथ-साथ रोष भी था और प्रतिरोध भी था। काशी के साहित्य में और उसकी परंपरा को आगे बढ़ाने में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी नवजागरण की बहुत मजबूत कड़ी थे। इस धार्मिक और आध्यात्मिक शहर में उनके होने का अर्थ था, भारतेंदु मंडल का अपने आप में व्यापक रूप होना। जिसमें बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनाथ चौधरी प्रेमधन, राधा चरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र सभी गहरी रचनात्मक मैत्री में भी अभिन्न थे। साहित्य उनके लिए यश और

कीर्ति का साधन या आत्म प्रकाशन भर नहीं था, बल्कि जमाने को भीतर से बदलने वाला हथियार था। कवि वचन सुधा, बाल बोधिनी, हरिश्चंद्र चंद्रिका, काशी, पत्रिका जैसी पत्र-पत्रिकाएं साहित्यिक, सामाजिक मुद्दे पर सक्रिय और गंभीर थी। भारतेंदु मंडल के रूढ़िवाद विरोध का आलम यह था कि 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में एक चरित्र अभिनीत करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने पिता का श्राद्ध तक कर दिया था। इससे उन्हें कितनी निंदा झेलनी पड़ी थी, कितनी शर्मिंदगी झेलनी पड़ी थी, यह बालकृष्ण भट्ट ही जान सकते थे। बनारस के साहित्य में और उसके आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मुंशी प्रेमचंद ने भारतीय किसान के हित के केंद्र में सामंती, साम्राज्यवादी, शोषण के जड़ों को पहचानते हुए अपनी रचनात्मक विकास को 'हंस' जैसी पत्रिका के लिए उन्होंने अपना जीवन खपा दिया। २० वीं शताब्दी के इस आरंभिक दौर के बनारस में विविध साहित्यक हलचलें थीं। काशी में उस समय मैथिली शरण गुप्त, जैनेंद्र, निराला , सुभद्रा कुमारी चौहान जैसे रचनाकारों का आना-जाना और परस्पर संवाद था। इसके अतिरिक्त शिवपूजन सहाय, पांडे बेचन शर्मा 'उग्र', शांतिप्रिय द्विवेदी और विनोद शंकर व्यास जैसे रचनाकार यहां थे। राय कृष्ण दास ने केदारनाथ पाठक का जिक्र किया है। जो अपने साहित्य ज्ञान में बहुत उम्दा थे। यहां साहित्य और यथार्थ के रिश्ते को समझने की बेचौनियों के कई रूप थे। जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद के साहित्य में भी यथार्थ के अलग-अलग रूप दिखाई देते हैं। इसी बनारस के बहुत पास धड़कने वाला हृदय प्रयाग भी है। हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष आचार्य रामचंद्र शुक्ल काशी की साहित्यिक परंपरा के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर रहे हैं। यहां आज भी साहित्य में कबीर, तुलसी, भारतेंदु और प्रेमचंद की विरासत नजर आती है।

छायावादी दौर में बनारस में यथार्थवाद को लेकर गंभीर बहसों और निष्कर्षों का रूप दिखाई देता है। जयशंकर प्रसाद ने यथार्थवाद पर विचार किया, यद्यपि उनकी रचना दृष्टि की प्राथमिकताएं भिन्न थी। जीवन की सोच, संस्था को भाव सत्ता के रूप में बदलकर व्यक्त करना उनकी विशेषता थी। १९५०-५५ के आसपास ''नई कहानी'' से बनारस की उल्लेखनीय संबद्धता रही है। नामवर सिंह, निर्मल वर्मा, केदारनाथ सिंह, रामदरस मिश्र आदि की रचनाओं में उनके अपने रचनात्मक संघर्ष के अनुरूप शिल्प की नोक- झोंक और अर्थ की सुख संरचनाएं मिलती हैं।

काशी की साहित्यिक परंपरा में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, एकांकी, पत्र-पत्रिकाएं तो लिखी गई, किंतु आलोचकों ने भी काशी में खूब सारी आलोचनाओं का भी बहुलता के साथ काशी के साहित्य में अपना योगदान दिया है जिनमें मैनेजर पांडे, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, केशव प्रसाद मिश्र, प्रेमलता शर्मा, प्रोफेसर कमलेश दत्त त्रिपाठी, मनु शर्मा और उनके आगे की पीढ़ियों ने भी काशी के साहित्य में अपना योगदान दिया है।

बनारस के क्लासिकल साहित्यिक चिंतन के पृष्ठों पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, शिव प्रसाद सिंह, नामवर सिंह, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, केशव प्रसाद मिश्र, पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, विद्यानिवास मिश्र, भोला शंकर व्यास, डॉ. देवराज, रेवा प्रसाद द्विवेदी, प्रोफेसर रामजी उपाध्याय, राम मूर्ति त्रिपाठी के साथ-साथ भानु शंकर मेहता, कुंवर जी अग्रवाल और कमलिनी मेहता भी है। डॉक्टर बच्चन सिंह, डॉक्टर सुखदेव सिंह, डॉक्टर चौथीराम यादव और मनु शर्मा तथा डॉ. युगेश्वर रचनात्मक सक्रियता की मिसाल है। उनके आगे भी बनारस की कई पीढ़ियां बनी है। काशीनाथ सिंह, डॉक्टर कमल गुप्त, कुसुम चतुर्वेदी, डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद, डॉक्टर जितेंद्र नाथ मिश्र, डॉ. ब्रह्म शंकर पांडे, डॉ. राम सुधार सिंह के भीतर पुराने बनारस के साथ-साथ नया बनारस भी इनके हृदय में व्याप्त है।

''बनारस की सर्वथा नई पीढ़ी को सभी गहरी उत्सुकता, आश्वस्ति और दुलार से देख रहे हैं। साहित्य और संस्कृति के लिए बहुत मुश्किल हो चले इस दौर में लघु पत्रिकाओं की बड़ी ही सार्थक हस्तक्षेप भरी उपस्थिति है। इनके द्वारा बिल्कुल नए अछूते क्षेत्र से कथ्य, संवेदना और शिल्प सामने आ रहा है। 'वागर्थ' और 'कथादेश' के नव लेखन अंकों से इन उपस्थितियों को पूरा फोकस मिला है। बनारस से इन रचनाकारों में व्योमेश शुक्ल, चंदन पांडे, पंकज पाराशर, विमल पांडे, श्रीकांत दुबे, अक्षय उपाध्याय आदि हैं।"[४]

बनारस की साहित्यिक सरगर्मियों में यथस्थितिवाद के अपने पैंतरे हैं। यहीं संत हैं तो सीकरी भी यहीं है। बनारस अपने रचनाकारों का रचनात्मक पदार्थ भी बना है।ज्ञानेंद्रपति के ''गंगातट'' तथा ''बहती गंगा'' का जिक्र हुआ है। विश्वनाथ मुखर्जी की बेजोड़ कृति "बना रहे बनारस" में, राम दरस मिश्र की आत्मकथा ''रोशनी की पगडंडियों'' में यह शहर आया है। शिवप्रसाद सिंह के ''गली आगे मुड़ती है'', ''वैश्वानर'' और ''नीला चांद'' में काशी के प्राचीन और नए कालखंड हैं। विष्णु चंद्र शर्मा के उपन्यास "विडंबना के घटित का पूर्वपक्ष" काशी ही है। काशीनाथ सिंह का ''अपना मोर्चा" तथा ''काशी का अस्सी'' में भी बनारस है, तो अब्दुल बिस्मिल्लाह के ''झीनी-झीनी बीनी चदरिया'' में कबीर के वंशज जुलाहों का पूंजी और टेक्नोलॉजी आधारित व्यवस्था से जूझना लिखा है। केदारनाथ सिंह के लिए बनारस मिथक में फैला यथार्थ है। उसमें विराट और सूक्ष्म है तो स्थूल, परजीवी और क्षुद्र भी। यद्यपि कबीर की तरह ही वे इन्हें समावेश में नहीं, बल्कि संघर्ष में देखते हैं। यह सत्य है कि उत्तर आधुनिक चुनौतियों से जूझने वाली छवि है, इसलिए वे ''उत्तर कबीर'' लिख पाए। अष्टभुजा शुक्ल ने भी बनारस पर कविताएं लिखी हैं। अंत में आधुनिक हिंदी के परिदृश्य की व्यापकता में काशी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। काशी में साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए साहित्यकारों में एक होड़ सी लगी रहती है। साहित्य के परिदृश्य में काशी आज भी नए और ऊर्जावान साहित्यकारों

को जन्म दे रही है। यहां की साहित्यिक परंपरा एक रेखीय, सतही और सीधी नहीं है। इसमें पर्याप्त विविधता और गहराई भी है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. काशी का इतिहास -डॉ.मोतीचंद, पृष्ठ संख्या - ३०४

२. काशी : नगरी एक रूप अनेक - संपादक ओमप्रकाश केजरीवाल , सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार- पृष्ठ संख्या - २००

३. काशी : नगरी एक रूप अनेक - संपादक ओमप्रकाश केजरीवाल, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार- पृष्ठ संख्या - २००

४. काशी : नगरी एक रूप अनेक - संपादक ओमप्रकाश केजरीवाल , सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार- पृष्ठ संख्या - २०३

५. काशी का इतिहास - डॉक्टर मोती चंद्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पंचम संस्करण - २०१८

६. बना रहे बनारस - विश्वनाथ मुखर्जी, भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली - ११०००३



**-शोध छात्र**
**आनंद आर्ट्स कॉलेज आनंद,**
**सरदार पटेल विश्वविद्यालय,**
**बल्लभ विद्यानगर, आनंद, गुजरात**
**मोबाइल - ७३८८५४४५४१**

# उत्तर-दक्षिण भाषायी संवाद : समस्या और समाधान

–सलमा खातून

समाज और भाषा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। किसी समाज के परिवार या व्यक्ति से संवाद स्थापित करने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बिना हम किसी समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते। किसी स्थान की जलवायु, नदी और पर्वत, उसकी सर्दी और गर्मी तथा अन्य मौसमी हालत सब मिलजुल कर वहाँ के प्राणियों में एक विशेष गुण का विकास करती है, जो प्राणियों के शक्ल-सूरत, व्यवहार, विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती है और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा-बोली का निर्माण करती है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता है, भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। राजनैतिक, व्यापारिक या धार्मिक संबंध जल्द या देर से कमजोर पड़ सकते है और प्रायः टूट जाते है; लेकिन भाषा का रिष्ता समय और अन्य बिखरने वाली व्यक्तियों की परवाह नहीं करता और एक तरह से मजबूत हो जाता है।

भाषा में ही किसी समाज का सच्चा प्रतिबिंब देखा जा सकता है। भाषा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम उस समाज में दीक्षित होते है जिससे हमारे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। वास्तव में किसी समाज या जन-समुदाय में जितने प्रकार के सामाजिक संबंध होते है उतने ही प्रकार की भाषा वैविध्यता होती है। एक ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में पंचमेल मिठाई की भाँति भाषा के कई कुलक या कई सेट संचित किए रहते हे। एक ही व्यक्ति परिवार में पति के रूप में पत्नी से, पिता के रूप में पुत्र से या पुत्र के रूप में पिता से, भाई के रूप में भाई या बहन से बातें करता है, कभी अपने पेशे और काम करनेवालों के बीच में, कभी पूजा अर्चना में, कभी कचहरी के काम-धाम में तदनुरूप भाषा का व्यवहार करता है। एक ही व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों के बीच भाषा के भी भिन्न-भिन्न स्वरूपों का व्यवहार करना पड़ता है।

किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए, उसकी अक्षुण्णता, अखण्डता को सुनिश्चित करने के लिए, उसे एकता के सूत्र में सम्पूर्ण रूप में बाँधे रखने के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो स्वतन्त्र हो, जो आपसी संवाद में सहज, सरल और वैज्ञानिक भी हो क्योंकि स्वतन्त्र भाषा के बिना कोई भी स्वतन्त्र राष्ट्र अपने में पूर्ण नहीं माना जाता।

एक ओर भाषा के द्वारा जहाँ सामुदायिक व्यापारों का नियंत्रण और संचालन होता है, उसकी एकता के द्वारा सामाजिक बन्धुत्व का सर्वाधिक पोषण होता है, वहीं दूसरी ओर इस भावना के द्वारा कि एक विशिष्ट जनसमुदाय अपने पड़ोस के अन्य जन-समुदायों से भिन्न भाषा का व्यवहार करता है, प्रायः अहंकारजनित ईर्ष्या और विग्रह का भी बीजवपन हो सकता है। कुछ ऐसी भावना से फ्रांस और स्पेन में ब्रिटेन और कैटलन के प्रचार का आंदोलन खड़ा हुआ था, जिसे वहाँ की सरकारों ने प्रोत्साहन नहीं दिया। ईरान में भी आन्दोलन चला कि ईरानी भाषा में जितने भी अरबी और तुर्की शब्द है, वे निकाल दिए जाएँ। तुर्की में भी केवल शुद्ध तुर्की शब्दों का प्रयोग करना निश्चित हुआ। इसी प्रकार भारत देश में भी हिन्दी ऊर्दू को लेकर विवाद है, कुछ लोग इसे बहिष्कार करने की बातें करते है। सर्वप्रथम सबको यह समझना होगा भाषा एक माध्यम है जिससे व्यक्ति अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है। यह वह साधन है जिसके द्वारा विचारों का आदान-प्रदान होता है। इस पर एक कहावत भी है कि कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर वाणी। जब प्रकृति ने ऋतुओं में विभिन्न प्रकार के ऋतु बनाए, एक देष की माटी कई प्रकार की है, भिन्न-भिन्न देषों या एक ही देष में व्यक्तियों के मध्य रहन-सहन का अन्तर है, खान-पान का अन्तर है तो भाषा में अन्तर क्यों ही न हो। जिस प्रकार किसी बगीचे में कई प्रकार के फूल या फिर जंगल में औषधीय गुणों वाले पौधे, बेल-बूटे, नाना प्रकार के पौधे इत्यादि समृद्धि का प्रतीक है क्योंकि हम मनुष्यों को उसकी आवश्यकता है उसी प्रकार यदि एक से अधिक भाषाओं के जानकार किसी एक ही देश में होंगे तो वह देश अपने आप में समृद्ध है, वह देश बुद्धिमत्ता से, कौशल से, विभिन्न भाषाओं के साहित्य से समृद्ध होगा और जब लोग अपने क्षेत्रीय बोली या मातृभाषा को बोलकर आत्मविश्वास से भरे होंगे तो दूसरी भाषाओं को सीखने में उन्हें मुश्किलों का सामना नहीं करना पड़ेगा।

किन्तु जब सम्पूर्ण राष्ट्र को आह्वान करने या राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने की बात आती है तो उसके लिए हमें एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो देश के बहुसंख्यक लोगों के द्वारा देश के प्रत्येक कोने में बोली, सुनी और समझी जाती हो न केवल देश में बल्कि विदेशों में भी उस भाषा ने अपनी छाप छोड़ी हो चाहे वह साहित्य के माध्यम से हो, फिल्म के माध्यम से हो, उसके किसी गाने के माध्यम से लोग प्रभावित हो, उस देश के लोगों के विराट व्यक्तित्व से ही परिचय क्यों न हुआ हो- जब हम उस भाषा की खोज करते है तो 'हिन्दी' हमारे सम्मुख आती है जो आज से नहीं अपितु बारह सौ वर्ष पहले ही अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुकी थी और शासन, प्रशासन के कार्यों में भी अपनी छाप छोड़ चुकी थी।

हिन्दी के प्रारम्भिक स्वरूप का विकास उत्तर अपभ्रंश-कालीन युग से ग्यारहवीं शताब्दी

से हुआ। दानपत्र तथा शिलालेख सन् १९७२ ई० के मिलते है। सन् १९७८ में पृथ्वीराज के सिंहासन पर आसीन होने के साक्ष्य मिलते हैं तथा प्राचीनकाल के सिक्कों से पता चलता है कि मुहम्मद गोरी के सिक्कों पर देवनागरी का प्रयोग मिलता है। इस सम्पर्क भाषा का और अधिक विकास तब हुआ जब अलाउद्दीन (१३वीं षवाब्दी) तथा तुगलक (देवगिरि-राजधानी-१३२७ ई०) के कारण उत्तर भारत के लोग बड़ी संख्या में दक्षिण में गये। बाद में प्रशासनिक दृष्टि से अकबर ने मालवा, बरार, खानदेष और गुजरात को मिलाकर 'दक्खिन' प्रदेश बनाया। उस समय कुछ मुस्लिम परिवारों के अतिरिक्त शेष सभी व्यापारी और श्रमिक जन घर और बाहर सभी जगह खड़ीबोली का प्रयोग करते थे। तत्कालीन समय में खड़ीबोली पर हरियाणा, मेवात, शेखावटी तथा ब्रज से सम्बन्धित बोलियों का प्रभाव था। उत्तर भारत के विभिन्न प्रान्तों से आये ये परिवार अपने घर या समूह में अपनी बोली बोलते और दूसरे क्षेत्र के लोगों से मिलने पर खड़ीबोली का प्रयोग करते थे।

हैदर अली और टीपू सुल्तान की कोच्चि के राजा के साथ जो सन्धि हुई, उसके अनुसार राज्य परिवार के लोगों को हिन्दुस्तानी सीखना शामिल था। फलतः हिन्दुस्तानी मुंशी की नियुक्ति हुई और हिन्दुस्तानी को प्रशासन में स्थान मिला। इसी प्रकार सिकंदर लोदी ने अपने राजकाज के हिसाब के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग किया। (डॉ० आबिद हुसैन)। शेरशाह ने जो सिक्के चलाये उसमें नागरी और फारसी दोनों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। मुगलों की दरबारी (राजकाज की भाषा) भाषा ऊपरी तौर पर फारसी रहीं हो लेकिन आम बोलचान की भाषा कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यभारत आदि में हिन्दी-भाषा ही आंतर-भाषा के रूप में विकसित हुई और ऐसी स्थिति में 'सहराजभाषा' हिन्दी ही मानी जा सकती है। अकबर स्वयं हिन्दी में लिखते थे। जहाँगीर को हिन्दी भली प्रकार आती थी। आलमगीर औरंगजेब के षासन में डॉ० जॉन मार्शल ने (१६६८-१६७२ई०) नागरी के विषय में जो कुछ सुना वह लिखा। औरंगजेब के काल तक तो हिन्दी की विविध शैलियाँ प्रयोग में आने लगी थीं साथ ही ब्रजभाषा व राजस्थानी का भी प्रशासन में प्रयोग होने लगा। जिला स्तर पर जो आज प्रशासनिक भाषा का ढाँचा है उसकी बहुत कुछ देन मुगलकाल की है-तहरीर, याददाश्त, खाते-नक्शा, मिसिल, इत्तलनामा, रसीद, सनदी फरमान, सनद, हकीकत, फरद, दस्तूर, रोजनामा आदि। आचार्य चन्द्रबली पांडेय ने 'राष्ट्रभाषा पर विचार' में मुगलकाल में हिन्दी के प्रयोग का विस्तृत विवरण दिया है।

मराठा प्रशासन में राजभाषा के रूप में हिन्दी का व्यापक प्रयोग मिलता है। मराठों के राजकाज से सम्बद्ध सैकड़ों पत्र पुणे तथा बीकानेर के अभिलेखों में सुरक्षित है। डॉ० केलकर ने बताया कि इन्होंने हिन्दी अथवा हिन्दवी भाषा को अपना माध्यम बनाया। 'पेशेवा दफ्तर'

में मराठी पत्रों के साथ पर्याप्त हिन्दी के पत्र भी है। इन सरकारी पत्रों में ७८ विभिन्न प्रकार प्राप्त हुए है। राजस्थान की विभिन्न रियासतों में तो पूरा पत्राचार हिन्दी में होता था।

इससे यह पता चलता है कि कश्मीर, पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, गुजरात, राजस्थान में हिन्दी ने प्रशासन और व्यावहारिक जीवन में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा ली थी। ब्रिटिश शासनकाल में भी अंग्रेजों के द्वारा यह महसूस किया जाने लगा कि देश में आपसी विचार-विमर्श के लिए कोई सामान्य भाषा हो और यह भाषा उन शताब्दियों में भी परम्परा से हिन्दी/हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। मिली-जुली शब्दावली भी विकसित हुई जिसका प्रमाण 'हाब्सन जाब्सन' कोश है। एडवर्ड टेरी (१६६५ ई०) ने कहा था- 'इन्दोस्तान देश की बोलचाल की भाषा अरबी-फारसी जबानों से बहुत मिलती-जुलती है पर बोलने में ज्यादा सुनकर और आसान है। इनमें काफी रवानी है और थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। लोग हमारी ही तरह बायें से दायें को लिखते है।' इससे इस बात का पता चलता है कि कहीं न कहीं उन्हें भी इस भाषा से लगाव हो चुका था, वे इससे सहमत थे क्योंकि यह सहज, सरल थी और धीरे-धीरे वैज्ञानिक रूप लेने की ओर अग्रसर थी।

दिनांक ४ मई १८०० ई० को मार्क्विस वेलेजली द्वारा स्थापित 'फोर्ट विलियम कॉलेज' का हिंदी के स्वरूप को विकसित करने में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जॉन गिलक्राइस्ट की नियुक्ति दिनांक ०१/११/१८०० को हुई और वह जनवरी सन् १८०४ तक ही रहे पर तत्कालीन परिस्थितियों में उनका योगदान ऐतिहासिक कहा जायेगा जबकि उन्होंने एक सर्वमान्य भाषा के रूप में विस्तष्त भूभाग में बोली जानेवाली भाषा को 'खड़ीबोली' नाम से अभिहित किया। 'फोर्ट विलियम कॉलेज' में ही कम्पनी द्वारा 'भाषा मुंशी' पद पर लल्लूलाल और सदल मिश्र की नियुक्ति हुई तथा खड़ीबोली हिन्दी में पुस्तकें तैयार करवायी। जॉन गिलक्राइस्ट ने हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप को किस प्रकार सवंर्धित किया यह अपने में विस्तश्त विषय है। इनके योगदान और सेवाओं के महत्व पर श्री एच० एच० विल्सन ने लिखा, "बड़े श्रम और सूझ से गिलक्राइस्ट ने प्रयोगों के नियम निकाले और एक स्टैण्डर्ड स्थापित किया जिससे अपील का अवसर ही नहीं आया और जो न केवल उस भाषा को सीखने वरन् उसकी रक्षार्थ आवश्यक था। अस्थिर तथा लचीली बोली की स्थिति से उठाकर नियमित स्थिरता और एकरूपता दी। "उन्नीसवीं षताब्दी के पहले दशक में दिल्ली के रेजीडेन्ट सी०टी० मेटकाफ ने अपने दिनांक २९/०८/१८०६ के पत्र में लिखा, 'भारत के जिस भाग में मुझे काम करना पड़ा है, मुझे हर जगह ऐसे लोग मिले है जो हिन्दुस्तानी बोल सकते है। हिन्दुस्तानी एक ऐसी जबान है, जो आमतौर पर उपयोगी साबित होती है और मेरी समझ में संसार की किसी भी भाषा से उसका व्यवहार बहुत बड़े पैमाने पर होता है।

उपर्युक्त दलीलों और साक्ष्यों को देखते हुए यह कह सकते है कि हिन्दी खड़ीबोली का विकास एक सतत् प्रक्रिया है यह अचानक ही किसी के द्वारा (उत्तर भारत के द्वारा) लायी गयी या थोपी गयी भाषा नहीं है, यह सर्वसम्मति से राजभाषा का पद इसलिए प्राप्त कर पाई क्योंकि यह देश के अधिकांश लोगों के द्वारा बोली और समझी जाती है।

राश्ट्रीय मंच पर आने से पहले ही सर्वप्रथम महात्मा गाँधी ने इस ओर ध्यान दिया। 'इण्डियन ओपीनियन' में आपने सन् १९०६ में लिखा ''यह संभव नहीं कि अंग्रेजी के जरिए भारत एक राष्ट्र बन जाए। यह हिंदी भाषा उत्तर भारत में सब लोग बोलते है। इसकी माता संस्कृत और फारसी होने के कारण यह हिन्दू और मुसलमान दोनों को अनुकूल पड़ सकती है। इसके सिवा चूँकि फकीर और सन्यासी यही भाषा बोलते है, इसलिए इसका प्रचार सब जगह होता है। अनेक अंग्रेज भी इसे सीखते है।'' समय-समय पर गाँधी जी हिन्दी का पक्ष लेते रहे जैसे- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९१६) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इंदौर (१९१८) आदि। द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन, भडौंच (१९१७) के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए आपने ऐसी भाषा के पाँच आवश्यक गुण बतायें जो राष्ट्र के सभी लोगों के दिल, दिमाग पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने और राष्ट्रभाषा बनने के निम्न गुण उस भाषा में विद्यमान हों-

- वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए आसान होनी चाहिए।
- उस भाषा के द्वारा भारत का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक कामकाज सरल होना चाहिए।
- उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों।
- वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान होनी चाहिए।
- उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या अस्थायी स्थिति पर जोर न दिया जाए।

और इन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं है (क्योंकि दक्षिण भारत के कई राज्य उनके राज्यों में बोली जाने वाली भाषाओं या अंग्रेजी के पक्ष में थे कि इनमें से किसी भी भाषा को राष्ट्रभाषा क्यों न बनाया जाये) और यह माने बिना काम नहीं चल सकता कि उपर्युक्त सारे गुण हिंदी भाषा में ही विद्यमान है। अतः गाँधी जी के प्रयत्न से ही सन् १९१८ में मद्रास में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना हुई।

विचारणीय तथ्य यह है कि भाषा को लेकर दक्षिण भारतीय राज्यों की आक्रामकता के कारण क्या है? क्यों वह इतने असहज हो जाते है? उनकी असहजता या आक्रामकता का वाजिब कारण भी है या कुछ लोगों या समूहों का केवल भाषा के विरुद्ध साम्प्रदायिक उत्पात है? इस पर चर्चा से और विभिन्न स्त्रोतों के हालिया कारणों से पता चलता है कि दक्षिण

भारतीय राज्यों द्वारा दिखाई जा रही इस आक्रामकता के मूल में केन्द्र सरकार के कुछ निर्णय है। हाल ही में भारत सरकार के विदेश मंत्रालय ने यह कहा कि पासपोर्ट बनवाने के लिए दिया जाने वाला विवरण अंग्रेजी के साथ-साथ अब हिंदी में भी दिया जा सकता है इसमें और भाषाओं की उपेक्षा की गयी। इसके साथ ही कुछ दिनों पहले यह भी कहा गया था कि भारत के राष्ट्रपति और अन्य मंत्री अपने भाषण केवल हिंदी में ही देंगे.... इस तरह के पक्षपाती निर्णय से गैर-हिंदीभाषी राज्यों को अपने भाषायी अस्तित्व के खत्म होने का डर सताने लगा है।

चूँकि भारत एक विशाल और विविधताओं से भरा हुआ देश है इसमें सरकार और प्रशासन तथा प्रशासन और लोगों के बीच आपसी संवाद स्थापित करने के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता है। भारत की आजादी के सूत्रधार रहे राजनेताओं ने भी तत्कालीन परिस्थितियों में यह माना था कि आधिकारिक तौर पर एक ऐसी भाषा का चुनाव किया जाये जो देश के बहुसंख्यक लोगों द्वारा बोली और समझी जाती हो और इसमें हिंदी पहले पायदान पर रही और इसे ही राजभाषा का पद मिला लेकिन हिंदी को बढ़ावा देने के साथ ही भारत के प्रत्येक नागरिक को यह ध्यान रखना होगा कि उनकी मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा या संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं की उपेक्षा न हो और भारत सरकार को भी इस दिशा में विशेष कदम उठाना चाहिए जिससे दूसरी भाषाओं पर इसका नकारात्मक असर न पड़े क्योंकि भाषा केवल भाषा नहीं है इससे हमारी अस्मिता या हमारा अस्तित्व भी जुड़ा है क्योंकि भाषा के द्वारा ही हम अपने को कहीं पर भी रिप्रेजेंट करते है और इस पर खतरा अर्थात् हमारे अस्तित्व पर भी खतरा है। अपनी भाषायी पहचान को बनाए रखने के लिए आवाज उठाना सही है लेकिन सारी प्रक्रियाएँ कानून के दायरे में होना चाहिए। इसके साथ ही सरकार को **त्रिभाषा सूत्र** दृढ़इच्छाशक्ति के साथ लागू करना चाहिए। प्रत्येक बच्चे को अपनी प्रारंभिक शिक्षा मातष्भाषा में दी जाए, दूसरी भाषा के तौर पर उसे हिन्दी (हिन्दी भाषी बच्चे को दक्षिण या पूर्वोत्तर की भाषा) सीखनी चाहिए। माध्यमिक कक्षाओं के स्तर पर अन्तरराष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का ज्ञान कराया जाना चाहिए। यह भी ध्यान रखा जाए कि त्रिभाषा सूत्र की सफलता के लिए पहला प्रयास उत्तर भारत की ओर से हो ताकि दक्षिण और पूर्वोत्तर भारत के निवासियों की शंकाएँ खत्म हो सकें। सन् १९२८ को दक्षिण भारत में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने तमिल भाषा-भाषियों से हिन्दी पढ़ने की वकालत करते हुए कहा- ''उत्तरी और केन्द्रीय भारत की मुख्य भाषाओं में एक ऐसा सामान्य तत्व है जो इन भाषाओं के बोलने वालों को बिना उनकी अपनी भाषाओं में विशेष परिवर्तन के ही एक दूसरे को समझ सकने में सहायता प्रदान करता है और यह सामान्य आधार ही भारत के अधिकतर भाग को जनभाषा बनाने में सहायक है। केन्द्रीय सरकार और विधानसभाओं और प्रान्तीय सरकारों को

भारत सरकार से व्यवहार की भाषा हिन्दी ही होनी अनिवार्य होगी। यदि वृहद् भारत में प्रतिदिन का संपर्क नहीं बनाए रखा गया, तो दक्षिण प्रदेश उस सांस्कृतिक वृक्ष की निर्जीव शाखा मात्र रह जायेगा।''

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. 'भाषा' (त्रैमासिक पत्रिका), केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय वर्श- १९६१,१९६२.....६७
२. राजभाषा का स्वरूप और विकास, लेखक- डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रकाशक- भारतीय भाषा परिषद ३६, शेक्सपीयर सरणी कलकत्ता-७०००१७
३. राजभाषा का स्वरूप और विकास, लेखक- डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रकाशक-भारतीय भाषा परिषद, ३६, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-७०००१७
४. राजभाषा का स्वरूप और विकास, लेखक- डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रकाशक-भारतीय भाषा परिषद, ३६, शेक्सपीयर सरणी कलकत्ता-७०००१७
५. राजभाषा का स्वरूप और विकास, लेखक- डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रकाशक- भारतीय भाषा परिषद, ३६, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-७०००१७, पृ० सं०-०५
६. राजभाषा का स्वरूप और विकास, लेखक- डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रकाशक-भारतीय भाषा परिषद, ३६, शेक्सपीयर सरणी कलकत्ता-७०००१७, पृ० सं०-०७
७. राजभाषा का स्वरूप और विकास, लेखक- डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रकाशक-भारतीय भाषा परिषद, ३६, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-७०००१७, पृ० सं०-१२
८. इन्टरनेट (अखबार और समाचार चैनल)



**-शोधछात्रा (हिन्दी-विभाग)**
**प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या) विश्वविद्यालय**
**प्रयागराज-२११००३**
**मो०: ८८८७६१५७६३**
**ईमेल- khanmariyam659@gmail.com**

# एक जमीन अपनी : आधुनिक नारी की तल्ख एवं विवश जिन्दगी की कहानी

–डॉ० पौल्टी कुमारी

कथा-लेखिका चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'एक जमीन अपनी' विज्ञापन जगत की जटिल परिस्थितियों में अपनी जमीन तलाशती एक आधुनिक नारी की तल्ख एवं विवश जिंदगी की कहानी है। इसकी नायिका अंकित दो पाटों के बीच सुगम रास्ते विवश जिंदगी की कहानी है। इसकी नायिका अंकिता दो पाटों के बीच सुगम रास्ते की तलाश में अधिक अजनबी बनकर रह जाती है। उसकी अपनी जमीन कहीं नहीं मिलती। आधुनिकता और परम्परा के दो पाटों में पिसती अंकिता ईमानदार प्रयासों के बावजूद आत्मीय जमीन नहीं ढूँढ़ पाती, जहाँ वह अपने पैर जमा सके। यह आज के जीवन की सच्चाई है कि विज्ञापन के माहौल में अत्याधुनिक ही बिकता है। उसमें स्थायित्व का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। पुरुष-समाज की लोभी आँखें नित नया शिकार तलाशती हैं। उसका दांपत्य-जीवन भी हिचकोले खा रहा है- 'अच्छा हुआ अब हमारा बच्चा जीवित नहीं रहा..... उसका मरना मेरी जिंदगी से तुम्हारा निष्कासन।" अहं भाव से पीड़ित अंकिता भी वैसा ही प्रत्युत्तर देती है -''मैं स्त्रीत्व की पूर्णता का भ्रम जीती रहूँगी, लो इसी वक्त यह रिश्ता खत्म।'' वह उसी क्षण अपनी चूड़ियाँ फोड़कर अपने पत्नीत्व को अपने पत्नीन्त को अपने से विलग करती है। आधुनिक शिक्षित नारी-जीवन की यह एक क्रूर सच्चाई है-अपने अकेलेपन के साथ अकेला होना। यह जितना डरावना है, उतना खौफनाक भी। यही आधुनिक नारियों की उलझन है और सच्चाई भी।

अंकिता की दूसरी समस्या भी कम जटिल नहीं है। जीवन के विखराव को स्थिर करने के प्रयास में वह मैथ्यू के व्यवहार की नजदीकी तथा दूरी, विश्वास तथा अविश्वास के बीच झूल रही है। मैथ्यू भी विकल है। वह अपने संबंधों के प्रति बेहद संवेदनशील और ईमानदार है। फिर भी वह अस्थिर है। वह नीता के व्यवहार से सहमी हुई है। सवाल है कि वह किधर जाए, कहाँ जाये। क्या उसका जीवन भाव तथा विचार के संघर्षण का प्रतिमान है? भाव और विचार तो परिस्थितियों के संघर्ष से बनते हैं। उसका कथन सही है कि वह परिस्थितियों की मार से मिला है। इसलिए वह नीता के व्यवहार के टुच्चेपन से व्यथित है। उसने ही षड्यंत्र करके मैथ्यू को उससे कुछ दूरी पर खड़ा कर दिया है। पति से विलग होने पर उसको छिनार

जैसे घृणित तोहमत के साथ फुफेरे भाई के साथ शारीरिक संबंध होने का आरोप लगा दिया। वह क्या करे? नीता से उसे ज्ञात हुआ था कि मैथ्यू एक कमीना व्यक्ति है। वह अंकिता से जो कुछ चाहता है, उसे मिल नहीं पाया जबकि नीता सुविधाजनक राह तलाश रही थी। उसे हर कीमत पर नौकरी पाना बुरा नहीं लगता। अंकिता अपनी शर्तों पर सब कुछ पाना चाहती है। एक ओर वह अपनी भावनाओं से निरंतर संघर्ष करती है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक संदर्भों से संघर्ष करने का साहस भी रखती है।

वस्तुतः अंकिता के सामने एक जटिल समस्या है। उसे लगता है नौकरी के स्थायीकरण का लक्ष्य दूर हो गया है और अस्थायी नौकरी भी हाथ से फिसलती जा रही है। नीता अपने बारे में बता चुकी है कि जीवन में उसने जितना भी प्राप्त किया है, उसमें उसने जीवन-विधान की प्रत्येक सीमा का अतिक्रमण किया है। देह बिछाने में भी उसके सामने नैतिक प्रतिबंध नहीं रहा है। क्या अंकिता का इस दुर्गम पथ का राही बनना ही एक मात्र विकल्प है? क्या इस दुनिया में वह अकेली नहीं है? क्या अपनी देह को बचाकर चलना संभव है? आधुनिक जटिलताओं की समग्रता से बना यह उपन्यास अंकिता के चरित्र के माध्यम से आज की परिस्थितियों से सामंजस्य नहीं बिठा पाने वाले अनेक आयामों का उद्‌घाटन करता है। इनमें अंकिता अकेली नहीं है। ठाकुर बीवी तो नए इतिहास की आधुनिक नारियों की प्रतिनिधि ा है, जिसने जरीना के सुव्यवस्थित जीवन को चिथड़े-चिथड़े करने में कोई कोताही नहीं की है। चपरासी चौधरी बीवी ठाकुर को साहब की पकड़ से छुड़ाकर बाहर लाया था।

शहरी संस्कृति का नया चेहरा अब अंकिता के लिए जाना-पहचाना हो गया था। उसने समझ लिया था कि गांवों की समाप्ति के बाद शहरी-सभ्यता भी पस्त हो गई है। यहाँ की व्यक्तिपरकता सर्वथा स्वतंत्र है। अपने परिवेश में हर कोई मौज-मस्ती के लिए स्वच्छंद है। नैतिकता पिछड़े समाज का परिधान बन गयी है। अंकिता के सुख-दुःख के दोस्त हरीन्द्र की पत्नी भी हरीन्द्र तथा सविता के मित्र भाव में संदेह की तर्जनी उठाने से परहेज नहीं करती। तब क्या यह मान लेना उचित होगा कि आधुनिक समाज को आशंकाओं ने घेरे लिया है? क्या आज का शहरी समाज देह-व्यापार के अतिरिक्त किसी रिश्ते को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है? क्या यह सिर्फ विज्ञापन-समाज की जिंदगी की असलियत है? अंकिता खुद से प्रश्न करती है कि आखिर तलाकशुदा नारी को लोग संदेह की जहरीली नजर से देखना क्यों पसंद करते हैं? व्यक्तिगत मनोभावना तथा बाह्य स्थितियों की सच्चाई के मध्य क्या यह स्वीकारना उचित होगा कि तलाकशुदा स्त्रियाँ विश्वास के योग्य नहीं हैं? यह तो ठीक है कि तलाकशुदा नारी में पुरुष ने अपनी सफलता की संभावना देखने की आदत बना कली है। फिर दोषी कौन पुरुष-वर्ग या तलाकशुदा नारी-समुदाय। ऐसा भी संभव है कि तलाकशुदा नारियों के

आत्मसंघर्ष के समक्ष उनका अपना जीवन आत्म-समर्पण प्रतीत होता हो। उपन्यास, सुविधा और अपसंस्कृति की ओर भागते समाज, विकल नारियाँ, सामाजिक मूल्यों का भटकाव आदि का उत्खनन करता है। नीता एवं अंकिता दो जीवन-मूल्यों की प्रतिबद्धता में जीने वाले प्रतिनिधि चरित्र हैं। एक ओर मूल्याधारित स्वनियंत्रित जीवन है तो दूसरी ओर अनियंत्रित, भावना और सुविधा पूर्ण जीवन है। जीवन के दोनों तट सहवर्ती हैं। भाषा के स्तर पर रचना प्रभावसंपन्न है। संवादों के अधिकाधिक प्रयोग से रचनाधर्मिता को सफल बनाया गया है। उपन्यास के दोनों प्रतिनिधि पात्र किसी अन्य के विचार से संचालित नहीं होते। अपनी आस्था और विश्वास का निर्माण वे स्वयं करते हैं। प्रायः मनुष्य समय की गतिशीलता से प्रभावित और संचालित होता हो।

अंकिता का मानवीय सरोकार भावना के भीतर ही रूपाकार भावना में जितनी निजता है, उतनी ही समाजिकता भी। मकान मालिक के कहने पर वह एक रात के लिए अपना आवास छोड़ती है। हरीन्द्र उसे परामर्श देता है कि कभी-कभार स्त्री के संघर्ष पर टिप्पणी करने से विज्ञापन की दुनिया में पहचान नहीं बनती। पहचान तब बनती है, जब राष्ट्रीय शक्ति को तोड़ने वालों को विषय बनाया जाये तथा इस पर नियमित रूप से लिखा जाये। रुचि के सवाल पर उसकी धारणा बल्कि एक प्रेमी है कि रुचि तो पैदा करने से बनती है। बातचीत में सुधांशु का नाम आने पर अंकिता उदास हो जाती है। उसे याद है कि वह उसका केवल पति नहीं था, भी था। उसको पाने के लिए जाति, धर्म, परम्परा तथा सामाजिक रूढ़ियों के पहरेदारों से कठिन संघर्ष करना पड़ा था। उस विकट संघर्ष का परिणाम सुधांशु था। उसके जीवन से सुधांशु को निकल जाने की घटना ने अंकिता को अंदर से तोड़ दिया था। कठिन दौर से गुजरने के बाद भी वह नीता के उस सुझाव से इत्तिफाक नहीं कर सकती, जिसमें जीवन की सफलता में लचीलापन की जरूरत होती है। अंकिता जानती है कि नीता ने जो कुछ पाया है उसमें उसके लचीलेपन का बहुत योगदान रहा है। अवसर तथा व्यक्ति के अनुकूल उसको अपनी देह बिछाने में न तो संकोच होता है, न देर। जीवन सुविधा प्राप्ति के लिए बना है। सुविधा त्याग-तपस्या के बिना नहीं मिलती है। नारी के लिए सुंदर-सुडौल शरीर ही पूंजी है। समयानुसार इसका समुचित उपयोग करने में उन्हें झिझकना नहीं चाहिए।

सेनगुप्त के साथ बात करती हुई वह हिन्दी पत्रकारिता की सच्चाई का बखान करती है। हिन्दी पत्रकारिता का समाज में वह सम्मान नहीं है, जो अंग्रेजी पत्रकारिता का है। यह भेदभाव प्रकाशित सामग्री के स्तर या संप्रेषण के कारण नहीं है, बल्कि यह समाज की मनोग्रंथी के कारण है। हिन्दी पत्रकारों के साथ बंधुआ मजदूरों जैसा व्यवहार हो रहा है कि उसे उतना ही भोजन दो ताकि हर वक्त पेट की आग से जलता हुआ पराश्रित बना रहे, वह अपने पैरों पर कभी खड़ा न हो सके। सच कहूँ तो अंग्रेजी वाले उस महिला के समान हैं जो स्लीवलेस

पहनकर अपने को परम आधुनिक समझने का भ्रम पाल लेती हैं। बेहतर लिखने वाली हिन्दी पत्रकारिता की महिलाओं को निम्नतर समझ लेते हैं। अंकिता हिन्दी पत्रकारिता की तिरस्कार भरी जिंदगी के सभी पक्षों को समझ चुकी है। उसके साहसी और संघर्षशील मन को तोड़ पाने में कोई सफल नहीं हुआ। वह मूल्यपरक जीवन जीती है तथा अपनी प्रतिभा के सही मूल्यांकन के लिए किसी को अपनी देह चबाने नहीं देती। इस सच्चाई के बावजूद नीता जैसी पत्रकार भी हिन्दी में है, जो अपनी दैहिक और अवसरानुकूल प्रतिभा के बल पर अंकिता को काफी पीछे छोड़ देती है।

आलोच्य विज्ञापन-जगत् की जटिलता, सुविधा और उपसंस्कृति की ओर भागते समाज, विकल नारियाँ, सामाजिक मूल्यों का भटकाव आदि का उत्खनन करता है। नीता एवं अंकिता दो जीवन-मूल्यों की प्रतिबद्धता में जीने वाले प्रतिनिधि चरित्र हैं। एक ओर मूल्याधारिता स्वनियंत्रित जीवन है तो दूसरी ओर अनियंत्रित, भावना और सुविधा पूर्ण जीवन है। जीवन के दोनों तट सहवर्ती हैं। भाषा के स्तर पर रचना प्रभावसंपन्न हैं। संवादों के अधिकाधिक प्रयोग से रचनाधर्मिता को सफल बनाया गया है। उपन्यास के दोनों प्रतिनिधि पात्र किसी अन्य के विचार सें संचालित नहीं होते। अपनी आस्था और विश्वास का निर्माण वे स्वयं करते हैं।

प्रायः मनुष्य समय की गतिशीलता से प्रभावित और संचालित होता है; लेकिन अंकिता एवं नीता इस सिद्धान्त के विलोम हैं। वे परिस्थितियों के दबाव को सदैव झटक देने में सक्षम रही हैं। उपन्यास में किस्सागो शैली की प्रधानता है। रचनात्मक स्तर पर विज्ञापन की दुनिया की वास्तविकता उपेक्षित रह गयी है। लेखिका का ध्यान केवल दो पात्रों पर ही ज्यादा केन्द्रित रह गया है। विज्ञापन-जगत का संकटापन्न समाज पृष्ठभूमि में दब गया है और दो पात्रों की प्रमुखता ही प्रभावकारी बन गयी है। विज्ञापन-जगत की सामाजिक अंतर्ध्वनि, गलाकाट प्रतियोगिता, घिनौना व्यवहार जैसे जीवित अनुभव रचनात्मक स्तर से प्रायः छिटक गये हैं। अतएव इस कृति में जीवनगत वैविध्य, विचार तथा समाज की गतिशील विचारधारा लुप्त हो गयी है। निश्चय ही अंकिता का संघर्ष आज की कामकाजी महिलाओं के संघर्ष का दर्पण है लेखिका ने इस चरित्र की उर्वर ऊर्जा की प्रस्तुति में अपनी मेधा का कमाल दिखलाया है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. एक जमीन अपनीः चित्रा मुदगल, प्रकाश वर्ष- १९९०
२. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-बच्चन सिंह
३. बीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक और हिन्दी उपन्यास- डॉ० रामविनोद सिंह



**-ग्राम व पोस्ट-मिरा बिगहा, थाना-चाकंद**
**जिला-गया-८०४४०४ (बिहार)**

# भारतीय सूफी सन्त बुल्लेशाह की काफियों में आध्यात्मिक गूँज

–महिमा

भारत पूरे विश्व में अपनी संस्कृति और आध्यात्मिक दर्शन के कारण विख्यात रहा है। आज भी भारत की मूल धरोहर उसकी संस्कृति और इस भूमि में उपजे महान सन्तों, सूफियों का ज्ञान है जो चिरकार से भारतीय ही क्या विश्व की जनता का मार्गदर्शन करते आ रहे हैं। भारतीय सन्त परम्परा में सन्तों का ज्ञान अधिकतर अनुभव स्तर पर रहा है उन्होंने लोक स्तर पर अपने ज्ञान और सत्य का प्रचार किया। सन्त या सूफी सन्त के शाब्दिक परिचय की बात करें तो सम्भवतः मानव उनके मूल उद्देश्य से पिछड़ जायेगा। उनका ज्ञान और दर्शन किसी महान् उपाधि या शब्द के भ्रम में पड़ने के लिए नहीं है, अपितु भौतिक जगत् में आत्मा का परमात्मा से मिलन कराकर मानवीय स्तर को उजागर करना था। सन्त और सूफी शब्द का अर्थपरक अध्ययन करें तो भी दोनों का मूल अर्थ शान्त और पवित्र आत्मा ही ज्ञात होता है। इस तरह इनके ज्ञान और पवित्रता की छाया से ही भारत भूमि सिंचित होती रही है।

भारतीय सन्त परम्परा की श्रेणी में बुल्लेशाह एक ऐसा नाम है जो कबीर की भाँति अपनी काफियों के माध्यम से प्रत्येक हृदय में क्रान्ति और शान्ति के दूत रूप में उपस्थित है। क्रान्ति वो जो हर धर्म और सम्प्रदाय की संकुचित दृष्टि के प्रति विद्रोह करे और शान्ति वो जोा मानव धर्म सुप्रसिद्ध पंक्ति ''बुल्ला की जाणा मैं कौण'' गायन शैली में हर मुख की आवाज बनी रही है, परन्तु मात्र आवाज बनना किसी शोर को बढ़ावा देने से कम नहीं है, अपितु सन्तों की वाणियों और दर्शन का उद्देश्य अपने काल में मानवीय प्रेम की ऐसी गूँज पैदा करना था जो एकता और विनम्रता से ओत-प्रोत हो। अपनी वाणियों से इन सन्तों ने लोकमानस में ऐसी छाप छोड़ी जो उनके हृदय को परिवर्तित करके भक्ति के मार्ग की ओर ले गयी। इन्हीं सन्तों, सज्जनों आरै सूफियों के द्वारा मध्यकाल जो हिन्दी साहित्य में भक्ति साहित्य के रूप में आया स्वर्ण युग की उपाधि प्राप्त करता है।

भक्तिकाल में निर्गुण धारा के सूफी और सन्त कवि निरन्तर जनता के हृदय में प्रेम और ज्ञान की धारा का प्रवाह करते रहे हैं, जिनमें कबीर और जायसी प्रमुख रहे हैं। कबीर ने वाणी की तेजस्विता से चेतना पैदा की तो जायसी ने अवधी की माधुर्यता से प्रेम। हिन्दी साहित्य

जगत् में तो इनके और अनेक सन्तों सूफियों के नाम मुखर रहे हैं, परन्तु अन्य भाषा साहित्य में भी कई सन्तों और सूफियों का योगदान रहा है। इसलिए हिन्दी या हिन्दीतर पट्टियों में मानवीय एकता और समरसता पैदा करने वाले सन्तों और सूफियों का अध्ययन भी आवश्यक है।

१७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पंजाब की धरती को अपने जन्म से सुगन्धित कर देने वाले सूफी कवि बुल्लेशाह आज कई लोगों की जुबान से सुरों का ताज बने हुए हैं। ऐसे ही भिन्न-भिन्न जाति, धर्म, वर्ग और सम्प्रदायों को एक सुर है में बाँधकर प्रेम की मस्ती में नचाने वाले सूफी कवि बाबा बुल्लेशाह थे। विनोद शाही जी का विचार है कि ''बुल्लेशाह को हमें उस व्यापक सांस्कृतिक इंकलाब के केन्द्र में खड़े कवि की तरह देखना और पढ़ना चाहिए।'' जो भारत, मौजूदा पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान और यहाँ तक कि सऊदी अरब और तुर्की तक को एक साझी चेतना की जमीन पर ला खड़ा करता है।''[१] इस तरह बुल्लेशाह की नजर में हर कोई उस खुदा का बन्दा है और सबमें उसी का नूर झलकता है। इसी से वह इश्क की घोषणा करके सबको एक तार से बाँधते हैं और जो मानवीय एकता व समरसता में भेद लाए उन सभी आडम्बरपूर्ण रीति-रिवाजों का खण्डन कर इश्क की नई बहार लाते हैं।

बुल्लेशाह अपनी गेय शैली में लिखी गयी काफियों में पंजाबी, उर्दू और हिन्दी तीनों की भाषायी विविधता से सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संवाद पैदा करते हैं, जो एकता और समरसता का मार्ग निकालता है जो आत्मा परमात्मा के बीच सारे भेद मिटा देता है। ये एक भाषा का संवाद ही कहीं हद तक धार्मिक विवाद भी को समाप्त करता है। भाषा की स्वीकार्यता एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से जोड़ती है। इसलिए बुल्लेशाह की भाषा कैसी है, पंजाबीनुमा हिन्दी या उर्दूनुमा पंजाबी अनुमान लगाना मुश्किल ही है। क्योंकि यही भाषा उन्हें सभी धर्म, सम्प्रदायों से अलग कर समस्त मानव जाति से जोड़ती है।

हिन्दू-मुस्लिम के सांस्कृतिक विवाद में समन्वयता पैदा करने वाले कवि बाबा बुल्लेशाह आते हैं जो अपनी वाणी से सांस्कृतिक सामंजस्य का बिगल बजाते हैं। यह बिगुल १४वीं शताब्दी में कबीर-जैसा क्रान्तिकारी कवि भी बजा चुका था लेकिन समय की माँग हर युग में एक क्रान्तिकारी को खड़ा कर ही देती है। १७वीं शताब्दी के क्रान्तिकारी कवि बुल्लेशाह बनते हैं। उन्होंने धार्मिक रूप से आपस में भेदभाव करने वाले लोगों में इश्क की नई बहार का बीज बोया और सबको एकसूत्र में बाँधने का प्रयास किया। जिससे हर किसी में उस राँझे का नूर ही झलकता मिलता है। राँझे का नूर अर्थात् हर आत्मा को उस आध्यात्मिक लौ से प्रत्यक्ष कराना जो कहीं बाहर नहीं, अपितु मानव हृदय में ही विराजमान है और सदैव मन आत्मा और हृदय को आलोकित करती रहती है।

**'वेद कुरानां पढ़ पढ़ थक्के,**
**सिजदे करदियाँ घस गए मत्थे,**
**ना रब तीरथ ना रब मक्के,**
**जिन पाया तिन नूर अनवार**
**इश्क दी नवियों नवीं बहार।"**[२]

वाणी की तेजस्विता और प्रखरता से उन्होंने अपने आपको आजाद रखा। उनकी भाषा किसी की मोहताज नहीं थी, वह मस्त फकीरी में गाने वाले सूफी कवि थे। जिनकी गूँज हृदय में एक झंकार पैदा करती है। बुल्लेशाह अपनी बात कहने में बड़े ही स्पष्ट और अक्खड़ थे। वह किसी भी कैद में रहना पसन्द नहीं करते थे। एक मस्त मिजाज सूफी थे, इसीलिए सामाजिक बन्धनों का भी बखूबी खण्डन करते हैं। १८वीं शताब्दी में ही वह खुद के स्वतन्त्र होने की घोषणा कर देते हैं-

**"मैं बे कैद- मैं बे कैद**
**ना मैं मोमिन ना मैं काफिर**
**ना सैय्यद ना सैद, मैं बे कैद'**[३]

परशुराम चतुर्वेदी जी 'सूफी काव्य संग्रह" में लिखते हैं-"ये बड़े स्पष्टवादी थे। इनकी आलोचनाओं में कबीर साहब-सा खरापन और चुटीलापन भी दिख पड़ता है। इनकी भाषा में पंजाबीपन पर्याप्त मात्रा में है और इनकी रचनाओं का विषय अधिकतर चेतावनी से सम्बन्ध रखता है।"[४] यह उचित है कि बुल्लेशाह अपनी काफियों में कई जगह चेतावनी देते नजर आते है। अपनी एक काफी में वह कहते हैं कि अपने दिल को साफ करके उस राँझे का नुक्ता पढ़ ले क्योंकि अन्त में वहीं सारे हिसाब होने है और बात खत्म होगी।

**"फड़ नुक्ता छोड़ हिसाबां नूं, कर दूर कुफर देयाँ बाबा नूं**
**लाह दोजख गोर आजबां नूं, कर साफ दिलां देयाँ ख्वाबा नूं**
**गल्ल ऐसे घर विच्च ढुकदी ए, इक नुक्ते विच्च गल्ल मुकदी ए"**[५]

इसी तरह मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए वह ईश्वर के करण-कण में व्याप्त होने की बात करते हैं और कहते हैं कि वह सर्वव्यापी है वह सबके हृदय में छुपा बैठा रहता है वह तो सभी का है लेकिन हम लोगों ने उसे कहीं राम तो कहीं अल्लाह और कभी मन्दिर तो कभी मस्जिद में बैठा रखा है, बल्कि वह तो घट-घट में विराजमान है।

**"बृन्दावन विच्च गऊआं चरावे, मक्के दा हाजी बण जावे,**
**लंका चढ़ नाद बजावे वाह वाह क्या रंग रंग बण जाईदा**
**हुण किस तो आप लुकाईदा"**[६]

सामाजिक क्षेत्र में धार्मिक आड्म्बर तो उनकी काफियों का मुख्य विषय रहा है जिस तरह से उस समय बाह्य आडम्बरों ने अपना घेरा बना रखा था और आम जनमानस उन कर्मकाण्डों में लिप्त था वह सब केवल पण्डित मुल्लाओं के ढकोसले थे जो आम जनता के अन्दर भय और चिन्ता पैदा करते थे, प्रेम नहीं तभी बुल्लेशाह चेतना पैदा करते हैं और सभी पोथियों को व्यर्थ बताते हैं। वह कहते हैं- कभी अपने आपको तो पढ़ा ही नहीं और ये पोथियाँ पढ़-पढ़ के अपनी जुबान साफ करते हो, कभी अपने अन्दर झाँका ही नहीं कि वह राँझा तुम्हारे अन्दर ही विराजित है जो इसे पहचान लेता है उसे फिर सारा जग प्यारा लगता है, क्योंकि हृदय ही मन्दिर है और हर मानस में राँझा है। इसलिए आपसी प्रेम होना चाहिए न कि किसी प्राणिमात्र को तकलीफ देकर मन्दिर जाना और ढोंग ढकोसलों से माफीनामा पढ़ना।''

**''पढ़ पढ़ इल्म हजार किताबां कदी आपणे आप नूं पढ़िया ही नहीं,**
**जा जा वड़दा है मन्दिर मसीति कदी मन आपणे विच वडया ही नहीं।''**[७]

धार्मिक आडम्बरों और कर्मकाण्डों के लिए मुल्लाओं को राह भटकाने वाला बताते हैं और ठग कहते हैं क्योंकि ये अपने स्वार्थ और पेट पालने के लिए पाखण्ड रचते हैं और भ्रम पैदा करते हैं-

**''मुल्लां जजी सानूं राह बतावण देन भरम दी फेरी,**
**एह तां ठग्ग जगत दे जिह लावण जाल चुफेरी,**
**आ मिल सार लै मेरी।''**[८]

x x x

**''फूक मुसल्ला भन्न सिट लोटा ना फड़ तबसी कासा सोटा**
**आलिम कहंदा दे दे होका तर्क हलालों खाह मुरदार**
**इश्क दी नवियों नवीं बहार।''**[९]

इस तरह बुल्लेशाह भारतीय दर्शन और सूफी सन्त परम्परा के मध्य एक ऐसी गूँज हैं जो अपने प्रियतम के इश्क में मस्ताना हो गया है जिसकी हर काफी में केवल प्रेम का सुर है वो सुर जो लौकिक जगत् को प्रेम की मस्ती से अलौकिक जगत् तक ले जाये। यही आध्यात्मिक गूँज और प्रेम उन्हें लोकमानस में बुल्लेशाह से बुल्ला बनाती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


१. विनोद शाही- बुल्लेशाह : समय और पाठ; आधार प्रकाशन, संस्करण २०१२
२. सम्पादक नामवर सिंह- बुल्लेशाह की काफियाँ, अनामिका पब्लिशर्स, संस्करण २०२०, पृ० ३७
३. वही, पृ० १८१

४. परशुराम चतुर्वेदी- सूफी काव्य संग्रह, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संस्करण ५; प्रकाशन २००५, पृ० १८२
५. सम्पादक नामवर सिंह- बुल्लेशशह की काफियाँ, अनामिका पब्लिशर्स, संस्करण २०२०, पृ० ४४
६. वही, पृ० ६०
७. डॉ० प्रणु शुक्ला- सूफी कवि बुल्लेशाह, अनु प्रकाशन, संस्करण २०२०; पृ० ६६
८. वही, पृ० २८
९. वही, पृ० ३६

**-शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)**
**दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**
**ईमेल- mahig4997@gmail.com**

समीक्षा

# साहित्यिक निबन्ध-संग्रह : नौ साहित्यिक निबन्ध

–ठाकुर परशुराम

श्री तेज प्रकाश द्वारा रचित एवं मेधा बुक्त, नवीन शाहदरा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'नौ साहित्यिक निबन्ध' हिन्दी में नौ श्रेष्ठ निबन्दों का संकलन है।

उनकी पहली पुस्तक जो आयी थी वह पचास आध्यात्मिक कविताओं का संकलन थी 'आत्माभिव्यक्ति के स्वर'। बहुत स्वागत हुआ था उसका। और अब उनके समय-समय पर श्रेष्ठ पत्रिकाओं में प्रकाशित नौ साहित्यिक निबन्धों का संग्रह प्रकाश में आया है।

इस संग्रह में तीन निबन्ध पाश्चात्य नोबेल पुरस्कार से नवाजे गये साहित्यकारों पर हैं-चिली के कवि पाब्लो नेरूदा, कोलम्बिया (लातिनी अमरीका) के पत्रकार, कहानीकार, पन्यासकार गैब्रियल गार्शिया मार्केज और स्वीडिश कवि टॉमस ट्रांसट्रोमर। एक निबन्ध नोबेल प्राप्त चीनी रचनाकार मो यान पर है। पाँच निबन्ध मूर्धन्य भारतीय साहित्यकारों पर है- उर्दू कहानीकार सआदत हसन मंटो (जो बाद में पाकिस्तान चले गये), हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ विजेता अली सरदार जाफरी जो उर्दू शायर थे, हिन्दी के निर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं मध्यकालीन हिन्दी कवि मलिक मोहम्मद जायसी।

| | | |
|---|---|---|
| **किताब का नाम** | : | नौ साहित्यिक निबन्ध |
| **विधा** | : | निबन्ध-संग्रह |
| **निबन्धकार** | : | तेज प्रकाश |
| **प्रकाशक** | : | मेधा बुक्स, एक्स-११, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२ |
| **मूल्य** | : | ३००.०० रुपये |
| **प्रकाशन वर्ष** | : | २०२३ |
| **उपलब्धता** | : | फिल्पकार्ट और अमेजन पर एवं प्रकाशक के पास |

इस निबन्ध-संग्रह की भूमिका गणमान्य साहित्यिक संस्था हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश, प्रयागराज के सचिव श्री देवेन्द्र प्रताप सिंह जी ने लिखी है। मैं उनकी भूमिका से अन्तिम पैरा को कोट करना चाहता हूँ-

''मैंने भूमिका के प्रारम्भ में आचार्य वामन को उद्धृत किया है- 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति'। मेरी जब श्री तेज प्रकाश जी से प्रथम मुलाकात हुई तो उन्होंने मुझे अपनी आध्यात्मिक कविताओं का संग्रह 'आत्माभिव्यक्ति के स्वर की एक प्रति भेंट की। मैंने समय निकाल कर इसे पढ़ा। अच्छी लगी। मन प्रसन्न हो गया और अब मैंने इस निबन्ध-संग्रह का अवलोकन किया है, पढ़ा है। इन निबन्धों में स्वाधीन चिन्तन की झलक है, सरसता है, सजीवता है और भाषा प्राकृतिक एवं सुगठित है, मर्यादित तो है ही। मैं यह कह सकता हूँ कि यदि कवियों की कसौटी गद्य है, तो निबन्धकार ने काफी हद तक इसे चरितार्थ करने में सफलता पाई है।''

मुझे जितनी रुचि आज के युग के साहित्य में है, उससे कम प्राचीन साहित्य, विशेषकर संस्कृत साहित्य में नहीं है। श्री देवेन्द्र प्रताप जी ने अन्त में जो कहा है यह बड़ी बात है। मेरा भी यही मत है और मैं भी कहना चाहता हूँ कि 'यदि कवियों की कसौटी गद्य है, तो निबन्धकार श्री तेज प्रकाश जी ने अपने निबन्धों में इसे चरितार्थ करने में सफलता प्राप्त की है।

जितना स्वागत कवि तेज प्रकाश की 'आत्माभिव्यक्ति के स्वर' में संकलित उनकी कविताओं का हुआ है, मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि उतना ही नहीं, उससे अधिक स्वागत 'नौ साहित्यिक निबन्ध' में संग्रहीत इन निबन्धों का होगा।

निबन्धों की भाषा तर्कपूर्ण और ललित है। शब्दों, वाक्यों में जबरदस्त सहज प्रवाह है। व्याकरण की त्रुटियाँ न के बराबर है।

पुस्तक की जैकेट ही नहीं सम्पूर्ण कलेवर बहुत सुरुचिपूर्ण है। कवर पर दृष्टि डालते ही पता लग जाता है कि अन्दर क्या है? पेपर और छपाई उच्चकोटि के हैं। इन सबके लिए प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

जिन सुधी जनों और साहित्य प्रेमियों, को हिन्दी और उर्दू साहित्य में रुचि है, उन्हें यह संग्रह विशेष तौर पर पसन्द आयेगा। विदेशी साहित्य के अध्ययन में जो रुचि रखते हैं, उन्हें भी यह संग्रह बहुत अच्छा लगेगा। यह लेख अच्छे साहित्य के पारखी लोगों के लिए हैं। साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह निबन्ध मानक हैं। वे इससे बहुत लाभान्वित होंगे। जो लेख इस पुस्तक में संग्रहीत हैं, वे पढ़ने और गुनने के योग्य हैं और संग्रहणीय भी।

निबन्धकार श्री तेज प्रकाश जी को बहुत-बहुत बधाई। भविष्य के लिए शुभकामनाएँ।

**-ठाकुर परशुराम**
**मो०: ९९१०२७४५६९**

विविधा

# स्त्री विमर्श बहस नहीं, जागृति का विषय है

–डॉ० कृष्णराज सिंह

जीवन के रोज का अनुभव किस तरह हम अपनी भाषा में, कहानी या उपन्यास में डालते हैं, यह महिला लेखन और स्त्री विमर्श के बहाने सामने आया है। हम जो भाषा-बातचीत का सवाल उठाते हैं, जनता से सम्पर्क की बात उठाते हैं या महिला-पुरुष लेखन की बात उठाते हैं वह सब इस विमर्श का व्यावहारिक रूप है। आश्चर्य यह है कि कथा साहित्य के अलावा अन्य विधाओं में जो विमर्श है उसकी बात बहुत कम की जा रही है। नाटकों में देखें तो 'ध्रुवस्वामिनी' का नाम लिया जा सकता है। वह केवल नायिका समस्या का नाटक नहीं है। वह मुख्य रूप से एक ऐसी स्त्री संवेदना का नाटक है जो सारे समाज के सामने चुनौती है। वहाँ स्त्री लड़ाई भी लड़ती है, तलाक भी मांगती है, राज्य भी प्राप्त करती है और क्रीड़ा कौतुक से शत्रु का सामना भी करती है। अन्त में अपने विचारों को पूरे राष्ट्रीय गौरव से जोड़ती है। एक तरह से भारतीय यथार्थवाद को, स्त्री के निजत्व को, उसकी अस्मिता को विमर्श को ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से जयशंकर प्रसाद हमारे सामने लाते हैं।

प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' का मंचन करते हुए मैंने देखा कि वहाँ भी स्त्री संवेदना आत्म निर्णय में बदल जाती है। लेखिका ने नाजायज सन्तान को संस्कार और शिक्षा के साथ समाज में स्थापित किया है पूरे व्यक्तित्व के साथ, यह लोगों को बहुत प्रभावित करता है।

मोहन राकेश के तीनों नाटकों को लेकर एक स्क्रिप्ट तैयार की थी। 'आषाढ़ का एक दिन' से मल्लिका को, 'लहरों का राजहंस' से सुन्दरी को तथा 'आधे अधूरे' से सावित्री को लिया और तीनों को मिलाकर ऐसा नाट्य लेख तैयार किया जो स्त्री की संवेदना को सामने लाता है। ऐसी स्त्री संवेदना जो लगातार संघर्ष कर रही है, संघर्ष करते हुए ऐसे बिन्दु पर पहुंचती है जो स्त्री के व्यक्तित्व को स्थापित करता है। 'कितना कुछ एक साथ' उस नाटक का शीर्षक था।

मृणाल पाण्डेय जब 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की सम्पादक थी तो उन्होंने मुझसे महिला नाटककारों पर साप्ताहिक के लिए लेख लिखवाया था। कुसुम कुमार, मृदुला गर्ग वगैरह के नाटकों पर काम करते समय मैने देखा था कि बहुत सी महिलाएं संवेदना, कथ्य और शिल्प

को लेकर नाटक लिख रही हैं। आज के दौर में एक मात्र महिला रचनाकार मीराकान्त लगातार नाटक लिख रही हैं। सब का ध्यान इस ओर जाना चाहिए कि हमारे लेखन का दायरा सीमित हुआ है। यह सवाल उठता है कि हमारे चारों ओर का वातावरण क्यां सीमित हो गया? आलोचनात्मक बातचीत के लिए आलोचनात्मक स्पेस भी कम हुआ है। यदि चर्चा करना चाहते हैं तो दायरे बढ़ाने पड़ेंगे। कहीं तो सुविधाजनक रास्ते ढूंढ़ने हैं। कुन्द होते होतो भी इन दिनों पहले के रचनाकारों पर काफी काम हो रहा है जिसकी साक्षी हैं मैत्रेयी, मृदुला गर्ग, नासिरा शर्मा आदि। इन दो दशकों में जिस तरह से रचनाओं पर चर्चा हुई है, अलोचना में बदलाव आया है, माहौल और सम्मान में परिवर्तन हुए हैं, उससे जो विमर्श हो रहा है वह केवल एक तरीके का विभाजन नहीं है। स्त्री स्वयं अपने लेखन में स्त्री के स्वभाव को जितनी गहराई से समझ कर लिखती है, वह गहराई ही उसकी विशेषता बन जाती है। चाहे रंगमंच के माध्यम से हो या कहानी के।

इसीलिए अब महिला निर्देशकों की बात होने लगी है। कुछ साल पहले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने 'पूर्वी' नाम से एशियन डायरेक्टर्स थियेटर फेस्टिवल किया था जिसमें एशियन वुमेन डायरेक्टर्स इकट्ठी हुई थीं। उनकी नाट्य प्रस्तुतियाँ भी हुई थीं। यह देखा गया था कि महिला निर्देशक होने के कारण उनमें क्या खास है। वह भी एशियन थियेटर में उन नाटकों को करने में प्रस्तुतिकरण का स्वरूप क्या है, कौन सी रंगभाषा तलाश की है। स्त्री सृजन कर्म, चाहे वह चित्रकला हो, नाट्य कला हो, रंगमंच हो उसमें मैने स्त्री की पूर्णता का सवाल उठाया है। पूर्णता उतना आसान प्रश्न नहीं हैं। सारा संघर्ष यही है कि वह अपने को चित्र, नाटक या रंगमंच में कैसे ढालती है।

बहुत पहले वर्जीनिया वुल्फ ने कहा था कि स्त्री पर स्त्री की तरह लिखने की सलाह देती हूँ। वस्तुतः स्त्री की कोमल भावनाएं, अलक्षित, अनचीन्हा सत्य स्त्री ही अनुभव कर सकती है और पहचान सकती है। उसके अनुकरण पर हम स्त्री विमर्श की बात नहीं करते। ज्यादातर लोगों ने स्त्री विमर्श को पूरी तरह समझा नहीं है। उनकी धारणाएं अधूरी हैं। उस पर विस्तार से समझने की जरूरत है। स्त्री के लिए मानवाधिकार जरूरी है कि उसे मनुष्य की तरह माना जाए। उसे पुरुष की तुलना में न देंखें। दृष्टिकोण अतिव्यापक है। स्त्री के मातृत्व पर पत्नीत्व पर, रिश्तों पर, घर बाहर के सम्बन्धों पर होने वाली सारी बातें विमर्श पक्ष से जुड़ जाती हैं। उनका आधार बनता है जीवन, जीवन से आधार लेता है साहित्य, जो हमें विभिन्न रचनाओं के माध्यम से मिलता है।

स्त्री विमर्श एक नाजुक और गम्भीर विषय है। इसे लेकर दो दशकों से अलग वैचारिकता

बन रही है। इसमें कई बातें एक साथ आती हैं। एक तरफ चिन्तन है जिसे वैचारिक दर्शन या सैद्धान्तिक लेखन कह सकते हैं। दूसरी तरफ नारी चेतना का सारा प्रसंग है, नारी संगठन या नारीवादी आन्दोलन है। वह एक बिल्कुल अलग स्तर पर एक चीज है, जो बहुत पहले से चली आ रही है। तीसरे स्तर पर वह लेखन है, जहाँ रचनाकार क्या सोचना है, क्या करता है, किस तरह भाषा से अपनी बात कह लेता है। रचनाकार अपने लेवल पर अपनी तरह से सोचता है और कहता है। ये धरातल स्त्री को अलग-अलग तरह से केन्द्रित करते हैं। उनके अनुभव भी भिन्न होते हैं।

स्त्री विमर्श पुरुष विरोधी नहीं है। मूल दृष्टि यह है कि स्त्री को स्त्री की दृष्टि से देखो। 'आषाढ़ का एक दिन' में मोहन राकेश ने मल्लिका से अन्त में कहलाया है कि 'जीवन को मेरी दृष्टि से भी तो देखो कालिदास'। इतना बड़ा नायक बड़ा साहित्यकार, वहाँ स्त्री संवेदना से जुड़ी जो केन्द्रित दृष्टि है, वह बहुत कुछ कहती है। उस समझने की जरूरत है। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष का वर्चस्व चला आ रहा है। एक विरोधात्मक जकड़न है। स्त्री उससे जकड़ी है, यह उसकी कमी है क्योंकि भारतीय परिवेश एक जैसा नहीं है। शिक्षा-अशिक्षा, आर्थिक सम्पन्नता को लेकर इतना अन्तर है कि हम उन्हें एक जैसा न देख सकते हैं, न समझ सकते हैं।

स्त्री विमर्श स्पेस को बल देता है। पुरुष की उदारता पर बल देता है। ढेर सारी चीजें उससे बंधी हुई हैं। नैनीताल में महादेवी वर्मा का संस्थान है समाख्या। समाज और साहित्य में महिलाओं की स्थिति को लेकर वहां संगोष्ठी आयोजित की गयी थी। उसमें वे महिलाएं भी आयी थीं, जो अशिक्षित और निचले वर्ग की थीं। उन्होंने अपने जीवन की अलग-अलग स्थितियों को बताया। वे स्थितियां भयावह जकड़न की थीं। स्थितिया ंतो निरन्तर जकड़ती हुई बढ़ती चली जा रही हैं। ढेर सारे प्रश्न हमारे सामने लाती हैं- पुरुष समाज में पुरुष के बनाये हुए नियमों के, उसके वर्चस्व के, स्त्री की अपनी निरीहता के, विवशता के, कि वह अपने को उस जकड़न से, उन रूढ़ियों से उन विवशताओं से निकालने की कोशिश नहीं करती या करना नहीं चाहती। वहाँ लेखकों ने यह महसूस किया कि हमारी लेखनी से जो पात्र रचे गये हैं हमारी रचनाओं में, कहानियों में, उपन्यासों में वे तो कुछ भी नहीं हैं, इन स्त्रियों ने जो बताया उसके सामने। जीवन में जो जीवित अनुभव हैं, वह कुछ और हैं और हमारा लेखन कुछ और।

महाराष्ट्र में सबसे ज्यादा काम हुआ है इस पर। मराठी स्त्रियां कहती हैं कि जितना साहित्य दूसरे वर्गों पर लिखा जाता है, हम दलित या निचले वर्ग की स्त्रियों पर बहुत कम लिखा जाता है। वे प्रायः छूट जाती हैं। निचले वर्ग की समस्याएं अलग हैं, मध्य वर्ग की अलग।

अतः स्त्री विमर्श बहुत ही व्यापक और जटिल विषय है। मन्नू भण्डारी तो कहती हैं कि जितना विचार हम स्त्री विमर्श पर करते हैं, उतना ही पुरुष विमर्श पर भी करना चाहिए। बहुत से नाटक हैं अनुराधा कपूर के अमाल अल्लाना के, जिसमें स्त्री के कल्चर, स्त्री के स्वभाव को समझने की बात कही जा रही है। स्त्री स्वभाव को समझना स्त्री विमर्श की सबसे बड़ी चीज है।

रंगमंच एक स्पेशल, संश्लिष्ट और सोशल का काम है। तरह-तरह के उसमें जो संबंधों के, सृजन के काम्प्लीकेशन्स आते रहते हैं, वही जीवन के भी तनाव होते हैं रंगमंच के माध्यम से भी स्पेस की बात की जा सकती है। स्त्री विमर्श न कोई विचारधारा है, न पश्चिम से आया हुआ संस्कार। आज के बदलते हुए समय में बदलती हुई दृष्टि से हमें सोचने की जरूरत है। यह समय परम्पराओं से मुक्त होने का है। मुक्त होने का तात्पर्य अपनी संस्कृति को भूलना नहीं है। एक संतुलन, लचीलापन और आधुनिक सोच ही मुक्त होना है जो स्त्री विमर्श में मिलता है।

'कठगुलाब' उपान्यास में पांच पात्रों को लिया है। चार महिला पात्र ऐसे हैं, जो अलग-अलग वर्ग के हैं, अलग-अलग ढंग से सोचते हैं। चारों अपनी जिन्दगी के रास्ते अलग ढंग से बनाते हैं। लेकिन चारों का जीवन अपूर्ण है। यह जो अपूर्णता है, उससे संघर्ष वे अपने-अपने स्तर पर करते हैं। उस संघर्ष के बाद अन्त में जाकर यह संकेत निकलता है कि तीन स्त्रियां तो केवल फूट-फूट कर रोती हैं, और एक अपने जीवन को आगे आने वाले सृजन में लगा देती है। वह कहती है कि मुझे वह मिला है, जिससे मैं अगला सृजन कर सकती हूँ। वह नया उपन्यास लिखने की योजना बनाती है। उसका पति सारी सामग्री ले जाकर अपने नाम से छपवा लेता है। एक शोषण यह भी है। इस शोषण की पीड़ा, अस्मिता का संघर्ष उस नारी पात्र में है पर उसका संघर्ष सृजन की ओर जाता है। सारे रचना संघर्ष को, जीवन संघर्ष को वह उस सृजन से जोड़ देती है।

'माई' दूसरा उपन्यास है। इसकी चर्चा इसलिए कर रही हूँ कि मातृत्व का सवाल एक बड़ा सवाल है जो स्त्री के जीवन में चिन्ता और चिन्तन का विषय हो सकता है। माँ और पत्नी ये दो रूप हैं स्त्री के जीवन में, जो फैसलों को जटिल बनाते हैं। स्त्री विमर्श ने मातृत्व को व्यापक अर्थ दिया है। उसे समाज के पोषक तत्वों से जोड़ा है। मां का जो रूप है, वह बच्चे के लालन-पालन का नहीं है। बल्कि वह समाज को वह व्यक्ति देती है जो समाज का हित करता है, देश का हित करता है।

संकेत यह है कि स्त्री विमर्श बहस का विषय उतना नहीं है, जितना जागृति का। जो अपने को आधुनिक कह रहे हैं, उनकी आधुनिकता कितनी बैलेंस्ड है यह चिन्तन की बात

है। हमारे समय ने, मीडिया ने बहुत सी चीजें दी हैं। हम बराबर पा भी रहे हैं। स्त्री विमर्श इन सबसे अलग कोई बड़ी चीज नहीं है, जो हमें इस बात के लिए व्यथित करे कि हम स्त्री-पुरुष की समस्या को लेकर चिन्ता करें। प्यार और सम्बन्धों की सोचें, जो स्त्री विमर्श को सही रूप दे सकते हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. स्त्री विमर्शः विविध पहलू सं० प्रो० गिरीश रस्तोगी (महिला लेखन के संदर्भ में) प्रकाशन - लोकभारती, पृष्ठ सं०-३८-४१

**डॉ० कृष्ण राज सिंह पुत्र बॉसदेव**
**पद- सहायक आचार्य**
**प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या) राज्य वि०वि०**
**प्रयागराज (उ०प्र०)**
**पता-ग्राम-नरहरपुर, पोस्ट-जलालपुर**
**कस्बा, प्रयागराज-२१२४०२ (उ०प्र०)**
**मो०: ९३८९४७९५८३, ७९०५०४५२१९**